प्रबन्ध-पीयूष

लेखक—

शिवप्रसाद अग्रवाल, एम० ए०, साहित्य-रत्न

'निबन्ध-निकुञ्ज' 'काव्य-प्रबोध' आदि के रचयिता

प्रकाशक :—

आगरा बुक स्टोर, रावतपाड़ा—आगरा

अजमेर, लखनऊ मेरठ

१६४०.]

[मूल्य २)

प्राक्कथन

'प्रबन्ध-पीयूष' को उच्च कक्षाओं में हिन्दी पढनेवाले विद्यार्थियों के समक्ष रखते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष है। यह पुस्तक विशेषतः कालेजों के छात्रो के लिए लिखी गई है, पर हिन्दी की मध्यमा, उत्तमा आदि उच्च परीक्षाओं मे सम्मिलित होनेवाले विद्यार्थी भी इसका उपयोग कर सकते है।

'निबन्ध-निकुंज' के पश्चात् निबन्ध-रचना का यह मेरा द्वितीय प्रयास है। 'निबन्ध-निकुंज' का जो आदर विद्यार्थी-समाज ने किया उसी ने मुझे प्रस्तुत पुस्तक को प्रकाश मे लाने के लिए प्रोत्साहित किया। इस पुस्तक की रचना की प्रेरणा तो मुझे अपने एम० ए० के निबन्धों से मिली थी। फिर जब मुझे कालेज के विद्यार्थियों को पढाने का सुअवसर प्राप्त हुआ तब उनके लिए निबन्धो की उपयुक्त पुस्तक का अभाव बड़ा खटका। फल स्वरूप इस पुस्तक में संकलित निबन्धो की रचना का सूत्र-पात हुआ।

इस पुस्तक की रचना मे मुझे गुरुवर प० जगन्नाथजी तिवारी, एम० ए० (हिन्दी तथा संस्कृत), शास्त्री (अध्यक्ष-हिन्दी-विभाग, आगरा कालेज) तथा गुरुवर प० अयोध्यानाथजी शर्मा, एम० ए० (अध्यक्ष-हिन्दी-विभाग, सनातन धर्म कालेज, कानपुर) से बड़ी सहायता मिली है। अतः इनका मैं हृदय से आभारी हूँ। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट किए बिना नही रह सकता जिनके विचारो से मैने बहुत लाभ उठाया है। कहना

न होगा कि प्रधानतः शुक्लजी के विचारों के आधार पर ही इस भवन का निर्माण हुआ है। शुक्लजी के अतिरिक्त उन समस्त लेखको और कवियो का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिनकी कृतियो ने मुझे प्रस्तुत पुस्तक की रचना में किसी-न-किसी प्रकार की सहायता प्रदान की है।

इस पुस्तक की रचना मे मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, इसका निर्णय तो पाठक-वृन्द ही कर सकेंगे। यदि इससे विद्यार्थी-समाज का कुछ भी हित हुआ तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा। पुस्तक में जो त्रुटियाँ हो उनके लिए, आशा है, सहृदय पाठक मुझे क्षमा करेंगे।

जगनेर, आगरा
१ जनवरी, १६४० ई०

विनीत,
शिवप्रसाद अग्रवाल

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

हिन्दी-साहित्य मे गोस्वामी तुलसीदास का स्थान

रूप-रेखा:—

(१) प्रस्तावना—आविर्भाव के समय हिन्दुओं की दशा

(२) प्रचलित सभी काव्य-पद्धतियों पर रचना

(३) प्रचलित दोनों काव्य-भाषाओं में रचना

(४) मानव-जीवन की विविध दशाओं का प्रत्यक्षीकरण

(५) प्रकृति-चित्रण

(६) मनुष्य की विविध मुद्राओं का चित्रण

(७) काव्य के बाह्याङ्ग का सुन्दर रूप

(८) प्रबन्ध-पटुता

(९) केशव, जायसी और सूर के साथ तुलना

(१०) उपसहार—सारांश

भारतवर्ष में मुसलमानो का आधिपत्य पूर्णतः स्थापित हो जाने पर हिन्दुओ के हृदय मे गौरव तथा आत्माभिमान के भाव नही रह गए। कट्टर एव धार्मिक असहिष्णु मुसलमान हिन्दुओ के धर्म पर आक्षेप करते थे, उन पर अत्याचार करते थे और पराधीन हिन्दू दीन बने हुए सब कुछ सह लेते थे। वस्तुतः हिन्दुओ का जीवन निराशामय था। उसमें उनके लिए कोई माधुर्य नही रह गया था। संसार मे उनके आँसू पोछनेवाला कोई नहीं था। गज की एक ही पुकार पर पैदल दौड़

आनेवाला ईश्वर भी अब उनकी सहस्रों पुकारो को नही सुनता था। हिन्दुओ की ऐसी दुर्दशा के समय गोस्वामी तुलसीदास का भारतवर्ष मे आविर्भाव हुआ जिन्होंने हिन्दू-जनता के भग्न होते हृदय को सँभाला और दुष्ट-दलनकारी भगवान् राम का शील-सौन्दर्य-शक्ति-समन्वित रूप दिखलाकर उनके जीवन को सरस बना दिया। साथ ही अपनी अलौकिक प्रतिभा द्वारा हिन्दी-साहित्य को प्रौढ़ता की चरमकोटि पर पहुँचा दिया, उसके कलेवर को देदीप्यमान रत्नो से अलकृत किया।

हिन्दी-साहित्य मे जिस उच्च आसन पर गोस्वामीजी आसीन है वहाँ तक आज तक किसी की पहुँच नही हुई है। अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा द्वारा उन्होंने हिन्दी-काव्य की प्रचलित सभी रचना-शैलियो मे राम-चरित्र की सुधा-धारा प्रवाहित करके उनमे पूर्ण सफलता प्राप्त की है। उनके समय मे काव्य-रचना की पॉच प्रधान शैलियाँ प्रचलित थीं—(१) वीरगाथा-काल की छप्पय-पद्धति (२) कबीरदास की नीति-सम्बन्धी बानी की दोहा-पद्धति (३) जायसी की दोहा-चौपाई-पद्धति (४) विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति और (५) गग आदि भाटो की कवित्त-सवैया-पद्धति। इन पॉचो शैलियो के बीच उनकी वाणी का सचार हुआ है। वीर-गाथा-काल की छप्पय-पद्धति पर यद्यपि उन्होने अधिक रचना नही की तथापि जो कुछ की है वह उनकी तत्सम्बन्धी निपुणता प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है। उनकी 'कवितावली' मे छप्पय-पद्धति देखी जाती है। वही से निम्नाकित छप्पय दिया जाता है—

कतहुँ बिटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत।
कतहुँ बाजि सो बाजि, मर्दि गजराज करक्खत॥
चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत।
बिकट कटक बिद्दरत बीर बारिद जिमि गज्जत॥
लँगूर लपेटत पटकि भट, 'जयति राम जय' उच्चरत।
तुलसीस पवननदन अटल जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत॥

कबीरदास की दोहा-पद्धति पर तो पूरी 'दोहावली' है और 'रामचरित मानस' मे भी कुछ दोहे हैं। कुछ नमूने देखिए—

एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम-घनश्याम हित, चातक तुलसीदास॥
उरबी परि कुलहीन होइ, ऊपर कलाप्रधान।
तुलसी देखु कलाप गति, साधन धन पहिचान॥

(दोहावली)

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

(रामचरितमानस)

जायसी की दोहा-चौपाई-पद्धति पर गोस्वामीजी का 'रामचरितमानस' बहुत प्रसिद्ध है। यहाँ तक कि प्रत्येक हिन्दू अपना धार्मिक ग्रन्थ मान कर उसका आदर करता है। कुछ उद्धरण देखिए—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि,
कहत लषनसन राम हृदय गुनि।
मानहु मदन दुन्दुभी दीन्ही,
मनसा विश्व विजय कहँ कीन्ही॥

विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति पर गोस्वामीजी ने 'गीतावली', 'कृष्णगीतावली' और 'विनय-पत्रिका' की रचना की है। गीतावली का निम्नांकित पद देखिए जिसमे भाव की व्यंजना अत्यन्त मार्मिक है—

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
बिपति बँटावन बन्धु-बाहु बिनु करौ भरोसो काको।
सुनु सुग्रीव साँचेहू मोपर फेरयो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौ तज्यो लखन सो भ्राता॥
गिरि कानन जैहै शाखामृग हौ पुनि अनुज सँघाती।
ह्वै है कहा बिभीषन की गति, रही सोच भरि छाती॥

तुलसी सुनि प्रभु बचन भालु कपि सकल बिकल हिय हारे ।
जामवत हनुमत बोलि तब औसर जानि प्रचारे ॥

गंग आदि भाटो की कवित्त-सवैया-पद्धति पर गोस्वामीजी की 'कवितावली' है । उसमे प्रायः सभी रसो का समावेश अनुकूल शब्द-योजना द्वारा किया गया है । देखिए—

दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुदर मदिर माही ।
गावति गीत सबै मिलि सुदरि, वेद जुआ जुरि विप्र पढाहीं ॥
राम को रूप निहारति जानकी ककन के नग की परछाही ।
याते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं ॥

× × ×

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानौ,
लक लीलिबे को काल रसना पसारी है ।
कैधौ ब्योमबीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीररस बीर तरवारि सी उघारी है ॥

हिन्दी के अन्य किसी भी कवि को हम इस प्रकार भिन्न-भिन्न शैलियो में रचना करते हुए नहीं पाते । जिस प्रकार काव्य की प्रचलित सभी पद्धतियो पर गोस्वामीजी ने अपना रचना-चमत्कार दिखलाया है उसी प्रकार काव्य की प्रचलित दोनो भाषाओं—व्रजभाषा और अवधी—मे उनकी काव्य-श्री दिखलाई पड़ी है । व्रजभाषा और अवधी पर जैसा समान और विस्तृत अधिकार गोस्वामीजी का था वैसा अधिकार आज तक किसी अन्य कवि का नहीं देखा गया है । सूर और जायसी सरीखे श्रेष्ठ कवि भी केवल एक ही भाषा पर अधिकार रखते थे । न सूर अवधी लिख सकते थे और न जायसी व्रजभाषा ।

विषय की दृष्टि से भी गोस्वामीजी के सम्मुख हिन्दी का कोई भी कवि नहीं खड़ा रह सकता । मानव-जीवन की जितनी अधिक दशाओं का समावेश उन्होने अपनी कविता में किया है उतनी का किसी अन्य कवि ने नहीं । मानव-अन्तःकरण की सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्ति का उद्घाटन

उन्होंने किया है। यहाँ तक कि कुछ ऐसी दशाओं का भी दर्शन कराया गया है जिनका अभी तक नामकरण तक नहीं हुआ है। वीरगाथा-काल के कवि केवल उत्साह को, भक्तिकाल के कवि केवल ज्ञान अथवा लोकोत्तर प्रेम को और रीतिकाल के कवि केवल दाम्पत्य प्रेम को लेकर चले है। हिन्दी के अन्य सभी कवियो का क्षेत्र सकुचित रहा है, गोस्वामीजी के समान विस्तृत नही। विस्तृत क्षेत्र मे कार्य करते हुए भी गोस्वामीजी ने कहीं भी अपनी रचना मे शिथिलता नहीं आने दी है। उन्होंने जिस सिद्धहस्तता के साथ शृङ्गार रस का वर्णन किया है उसी के साथ वीर का। जिस कौशल के साथ करुण रस का चित्रण किया है उसी के साथ भयानक का। जिस पटुता के साथ बीभत्स रस का रूप खड़ा किया गया है उसी के साथ रौद्र का। शान्त, अद्भुत तथा हास्य रस भी उनकी रचनाओ मे अपने भव्य रूप दिखलाते हैं। छोटे-छोटे भाव तो अगणित हैं कहाँ तक बतलाए जायँ। सभी रसो के नमूने दिखलाना तो इस छोटे से निबन्ध के बूते की बात नही तो भी बीभत्स तथा अद्भुत रस के नमूने यहाँ पर दिखलाए जाते हैं--

> ओझरी की झोरी काँधे, आँतनि की सेल्ही बाँधे,
> मूँड़ के कमडलु, खपर किये कोरि कै।
> जोगिनी झुटुंगु झुंड झुंड बनी तापस सी,
> तीर तीर बैठीं सो समर सरि खोरि कै।
> सोनित सो सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
> प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।

(बीभत्स रस)

× × × ×

> लीन्हो उखारि पहार बिसाल, चल्यो तेहि काल, बिलब न लायो।
> मारुतनदन मारुत को मन को खगराज को वेग लजायो॥

तीखी तुरा तुलसी कहतो पै हिये उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभलीक लसी कपि यों धुकि धायो ॥
(अद्भुत रस)

शृङ्गार का वर्णन जनकपुर की वाटिका मे राम-जानकी-मिलन के अवसर पर अथवा रावण द्वारा सीता-हरण पर, करुण का वर्णन दशरथ के विलाप-रूप मे अथवा लक्ष्मण के शक्ति लगने के अवसर पर, हास्य का वर्णन नारद-मोह के प्रसग मे, वीर का वर्णन राक्षसो के वध के अवसर पर, रौद्र का वर्णन जनक के परितापयुक्त वचन कहने पर अथवा परशुराम-सवाद मे, भयानक का वर्णन हनुमान द्वारा लका जलाने पर और शान्त का वर्णन प्रधानत· उत्तरकाण्ड मे तुलसी-दासजी ने किया है।

बाह्य-दृश्य-चित्रण की दृष्टि से भी गोस्वामीजी हिन्दी के अन्य कवियो से ऊँचे उठ जाते है। यद्यपि उनका अधिकतर प्रकृति-चित्रण अन्य कवियो का सा ही साधारण है तथापि कही-कही उन्होने सश्लिष्ट योजना द्वारा प्राकृतिक दृश्यो के ऐसे सजीव चित्र खीचे है कि वे उनको अन्य कवियो से ऊँचा उठाकर सस्कृत के कालिदास, वाल्मीकि आदि कवियो के समकक्ष रख देते है। उनके चित्रकूट के दृश्य ऐसे ही है। देखिए—

सोहत श्याम जलद मृदु घोरत धातु-रँगमगे सृ गनि।
मनहुँ आदि अभोज बिराजत सेवित सुर-मुनि-भृ गनि ॥
सिखर-परस घन घटहिं मिलति बग-पाँति सो छबि कबि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी ॥

वास्तव में प्रकृति के जिन रूपो के साथ उनके हृदय ने सामजस्य स्थापित किया उन्हींके प्रत्यक्षीकरण मे उन्होने अनुपम कौशल दिखलाया है।

भिन्न-भिन्न कार्यों मे सलग्न मनुष्यो की मुद्राओ का चित्रण करने से दृश्य अधिक जीता जागता हो जाता है। इस बात की ओर तो

गोस्वामीजी के अतिरिक्त शायद और किसी कवि ने ध्यान ही नही दिया है। गोस्वामीजी भौ पर हाथ रक्खे हुए कभी बाहर कभी भीतर जाने वाली शबरी की मुद्रा का कैसा सुन्दर चित्रण करते हैं, देखिये—

छन भवन छन बाहर बिलोकति पंथ भू पर पानि कै।

कविता के बाह्य अङ्ग का जैसा सुन्दर रूप गोस्वामीजी की रचना में मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं। उक्ति का अनूठापन, भाषा, अलकार सभी उनके काव्य-सौन्दर्य को बढ़ानेवाले है। उनका सा उक्ति का अनूठापन सूर के अतिरिक्त अन्य कवि की रचना मे नहीं पाया जाता। उनकी सी प्रौढ, सुव्यवस्थित एव परिष्कृत भाषा घनानन्द के अतिरिक्त अन्य कवि की नही। अलंकारो की योजना उन्होने ऐसे मार्मिक ढङ्ग से की है कि वे सर्वत्र भावो या तथ्यों की व्यजना मे ही सहायक हुए है। केशव के समान पाडित्य-प्रदर्शनार्थ या बिहारी के समान शब्द-चमत्कार दिखाने के लिए अलकारों का कही भी प्रयोग नहीं हुआ हैं।

गोस्वामीजी की प्रबन्ध-पटुता उनकी सब से बड़ी विशेषता है जो हिन्दी के किसी भी कवि मे नही पाई जाती। इसी प्रबन्ध-पटुता के कारण उनका 'रामचरितमानस' आज हिन्दू-जनता का कंठ-हार हो रहा है। हमारे यहॉ हिन्दी मे प्रधान प्रबन्ध-काव्य-रचयिता दो ही हुए है—जायसी और तुलसीदास। कहने की आवश्यकता नहीं कि जायसी मे हमारे गोस्वामीजी की सी प्रबन्ध-काव्य रचने की कुशलता नही देखी जाती। 'रामचरितमानस' मे आदि से अन्त तक राम-कथा अबाध रूप से प्रवाहित होती है और भिन्न-भिन्न घटनाएँ शृखला की कड़ियो की भॉति कथा मे मिली हुई हैं। कही भी कथा में शिथिलता नही आई है। जायसी के 'पदमावत' में कई स्थलो पर कथा में शिथिलता आगई है और उसका सम्बन्ध-निर्वाह भी अच्छा नही हुआ है। चरित-चित्रण भी प्रबन्ध-पटुता का एक अग है। गोस्वामीजी ने दशरथ, राम, लक्ष्मण, रावण, हनुमान, भरत, सीता, कैकेयी, मथरा, कौशल्या, मन्दोदरी आदि के बड़े सुन्दर चित्र खीचे हैं।

तुलसीदासजी से तुलना के लिए केशव, जायसी और सूर को लोग प्रायः रक्खा करते हैं। केशव की तो तुलना तुलसी से किसी प्रकार नही की जा सकती। कहाँ तुलसी सूर्य और कहाँ केशव दीपक। मानव-अन्तःकरण, प्रकृति-चित्रण, रचनाशैली, चरित्र-चित्रण सभी दृष्टियो से तुलसी केशव की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़े चढ़े हैं। केशव हृदय-हीन थे और तुलसी सहृदय। जायसी और तुलसी हिन्दी में दो ही श्रेष्ठ प्रबन्ध-कार कवि हुए हैं। पर प्रबन्ध-पटुता, भाषा, मानव-हृदय का विस्तृत अध्ययन, बाह्यदृश्य-चित्रण और चरित्र-चित्रण इन सभी दृष्टियों से तुलसीदासजी जायसी से कहीं श्रेष्ठ हैं। जायसी के 'पदमावत' मे न तो पात्रों के चरित्र का विकास ही देखा जाता है और न हृदय के विविध भावो का प्रत्यक्षीकरण ही। उसमें तो दाम्पत्य रति की ही प्रधानता पाई जाती है। पर गोस्वामीजी के 'रामचरितमानस' में भरत, लक्ष्मण, राम, सीता, दशरथ, कैकेयी, मथरा आदि पात्र-पात्रियों का चरित्र मनोवैज्ञा-निक ढङ्ग से चित्रित हुआ है और उसमें हृदय के सभी भावों को स्थान मिला है। बाह्यदृश्य-चित्रण तो जायसी का बहुत बुरा हुआ है। प्रायः वस्तुओं की नामावली दे दी गई है अथवा प्रकृति को उद्दीपन-रूप में रख दिया गया है। भाषा भी जायसी ने बोलचाल की अवधी रक्खी है। पर गोस्वामीजी ने साहित्यिक एव बोलचाल की अवधी दोनों का अच्छा प्रयोग किया है। प्रबन्ध-पटुता भी गोस्वामीजी की सी जायसी में नही मिलती जैसा कि अभी दिखलाया जा चुका है। अतः निस्संदेह गोस्वामीजी जायसी से उच्च पद के अधिकारी हैं।

अब सूर को लीजिए। सूर और तुलसी का जोड़ा हिन्दी-साहित्य में प्रसिद्ध है। प्रतिभा की दृष्टि से हम दोनों कवियों मे कोई अन्तर नही कर सकते। पर इसमें सन्देह नहीं कि तुलसीदासजी का क्षेत्र विस्तृत है और सूरदासजी का सकुचित। यदि तुलसी ने काव्य के दोनो क्षेत्रों—प्रबन्ध और मुक्तक—में अपनी वाणी का सचार किया है तो सूर ने केवल मुक्तक-क्षेत्र में। यदि तुलसी ने मानव-हृदय के भावो का

समष्टि रूप अपनी कविता में रक्खा है तो सूर ने केवल एक भाव प्रेम (वात्सल्य और दाम्पत्य) को लिया है। यदि तुलसी ने समस्त प्रचलित काव्य-शैलियों और काव्य-भाषाओ पर अपना अधिकार दिखलाया है तो सूर ने केवल गीत-शैली और ब्रज-भाषा को चुना है। इसके अतिरिक्त सूर की साधना में लोकपक्ष का अभाव पाया जाता है। उन्होने अपने उपास्यदेव कृष्ण के लोकपक्ष को जनता के सम्मुख प्रतिष्ठित नहीं किया है, पर तुलसी की साधना में लोकपक्ष की प्रधानता है। उनके राम दुष्ट-दलन, ससार-रक्षक राम हैं, ब्रज-वनिताओं से घिरे हुए उन्हीं के साथ क्रीड़ाएँ करते हुए कृष्ण नहीं। अतः विस्तार एव प्रभाव की दृष्टि से तुलसी ही सूर से ऊँचे ठहरते हैं।

सारांश यह है कि हिन्दी-साहित्य में गोस्वामीजी का स्थान सर्वोच्च है। इसी एक कवि ने हिन्दी-साहित्य को उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया, इसमें सन्देह नहीं। तुलसी सा कवि पाकर हिन्दी-साहित्य कृतकृत्य होगया।

वर्तमान हिन्दी-कविता की प्रवृत्तियाँ

रूप-रेखा:—

(१) प्रस्तावना - समयानुसार हिन्दी-कविता का रूप-परिवर्तन

(२) वर्तमान हिन्दी-कविता की विषय-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ

(क) करुणा की प्रवृत्ति

(ख) राष्ट्रीयता के उद्गार

(ग) शृङ्गारी पुट

(घ) छायावाद का आधिक्य

(ङ) प्रकृति के प्रति अनुराग

(च) राम-कृष्ण की भक्ति

(छ) मुक्तकों की भरमार

(३) वर्तमान हिन्दी-कविता की शैली-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ—

(क) भाषा का रूप

(ख) कल्पना की प्रधानता

(ग) अलंकारों का सुन्दर प्रयोग

(घ) छन्द-विधान

(ङ) व्याकरण की दुर्दशा

(च) प्रगीतात्मक शैली की ओर झुकाव

(४) उपसंहार – स्वतन्त्र विकास में हिन्दी-कविता का महत्व

ससार परिवर्तनशील है। सभी सासारिक वस्तुएँ समयानुसार परिवर्तित होती रहती हैं। कविता को ही ले लीजिए। समय की प्रवृत्तियों

के अनुकूल प्रत्येक भाषा की कविता मे रूपान्तर देखा जाता है। हिन्दी-कविता की धारा ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी से अखड रूप से प्रवाहित हो रही है। इस धारा ने समयानुसार अनेक रूप परिवर्तित किए है। वीरगाथा-काल में यह वीर-रस-मय रही, भक्तिकाल मे यह भक्ति रस-मय रही, रीतिकाल में यह शृङ्गारमय रही और आज यह अपना और ही वेश बदले हुए है। हमे यहाँ पर इसकी वर्तमान प्रगति और प्रवृत्तियो का विवेचन करना है।

किसी व्यक्ति-विशेष के सुख-दुख की भावनाऍ उसकी सामाजिक, राजनैतिक आदि परिस्थितियो पर बहुत कुछ अवलम्बित रहती है। प्रतिनिधि कवियो की रचनाओ पर उनकी छाप रहती है। वर्तमान काल मे अँगरेजी-शिक्षा के प्रचार से लोगो मे देश-प्रेम और स्वतत्रता की भावनाऍ जाग्रत हो गई हैं पर राजनैतिक वातावरण उनके प्रतिकूल है। पश्चिम के सामाजिक विचारों से वे प्रभावित हो चुके है पर अपने समाज की रूढियो के कारण विवश है। उनकी आर्थिक स्थिति भी सतोषजनक नहीं है। राजनीति के क्षेत्र मे समाज दासत्व की बेड़ियो से जकड़ा हुआ स्वतन्त्रता का स्वप्न देख रहा है। इन सब परिस्थितियो ने लोगो के जीवन को नीरस बना दिया है। इस नीरसता का रूप हमारी कविता मे स्पष्टतः दृष्टिगत होने लगा है। प्रायः प्रत्येक कवि की रचना वेदना, करुणा, निराशा आदि भावों से ओत-प्रोत मिलेगी। देखिए बाबू मैथिलीशरण गुप्त स्त्री-जाति की दीनता पर कारुण्यपूर्ण विचार प्रकट करते हुए क्या कहते है--

> अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी।
> अचल में है दूध और ऑखो मे पानी॥

श्रीमती महादेवी वर्मा की तो वेदना चिर सहचरी हो गई है। देखिए वे क्या कहती है—

> मेरी आहे सोती है
> इन ओठो की ओटो में।

मेरा सर्वस्व छिपा है
इन दीवानी चोटों में ॥

पं० सुमित्रानन्दन पन्त तो जीवन की सरसता के लिए दुःख का होना आवश्यक समझते हैं। देखिए—

बिना दुख के सब सुख निस्सार
बिना आँसू के जीवन भार।

इसी प्रकार प्रसादजी, कौशलेन्द्रजी, माखनलालजी चतुर्वेदी, भगवतीचरणजी वर्मा की कविताओ में भी करुणा का साम्राज्य देखा जाता है। इस स्वातन्त्र्य-युग मे देशोद्धार की लहर उठना स्वाभाविक ही है। भारतवर्ष में अगणित वीर देशोद्धार का बाना धारण किए हुए मातृभूमि पर अपने जीवन का बलिदान चढा रहे हैं। राष्ट्रीय जागृति के लक्षण सर्वत्र दिखलाई देते हैं। ऐसे वातावरण में कवियों की वाणी भी राष्ट्रीयता के रग में रँगी हुई देखी जाती है। देखिए एक कवि किस प्रकार पुष्प-रूप मे अपनी अभिलाषा प्रकट कर रहा है—

मुझे तोड़ लेना बनमाली,
उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावे वीर अनेक ॥

(माखनलाल चतुर्वेदी)

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की जालियाँवाले बाग मे बसत, विजयी मयूर, विजया-दशमी, विदाई, स्वदेश के प्रति शीर्षक कविताएँ राष्ट्रीयता से भरी हुई हैं। विजयादशमी की चार पक्तियाँ देखिए—

पद्रह कोटि असहयोगिनियाँ
दहला दे ब्रह्माड सखी।
भारत-लक्ष्मी लौटाने को
रच दें लका काड सखी ॥

मैथिलीशरणजी गुप्त, वियोगीहरिजी, प्रसादजी, बालकृष्णजी शर्मा आदि की रचनाएँ भी देश-प्रेम का राग अलापती हैं।

साथ ही कुछ कवि अब भी पुरानी लकीर को ही पीटते चले आरहे है। अभी उनका जी नायक-नायिकाओं से नही भरा। रीतिकाल की जिन अश्लील रचनाओं ने समाज के रूप को विकृत कर दिया था वे आज भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती हैं। पर समय के प्रभाव से उनका बोल बाला नहीं। आधुनिक समाज मे ऐसी कविताएँ अधिक दिन तक नही रह सकतीं, वरन् शीघ्र ही बरसाती मेढ़कों की भाँति काल के गर्भ में विलीन हो जायँगी। कविता मे रति-भाव की व्यजना करना बुरा नही है, परन्तु इसका अनौचित्य खटकता है। जीवन में इसकी प्रधानता होते हुए भी इसके द्वारा मर्यादा का उल्लघन होना समाज को हितकर नही है। आजकल का समय हमें कर्मवीर बनने का पाठ पढा रहा है। हमें अपनी दशा सुधारने और मातृभूमि का उद्धार करने के लिए उद्योगी तथा कर्मण्य होना चाहिए। ऐसी परिस्थिति मे प्रेम का विलासमय रूप चित्रित करना समाज को और भी अधःपतित करना है।

प्रेम के लोकोत्तर रूप को लेकर कविता मे उसकी अभिव्यजना करना वर्तमान काल का प्रधान लक्षण है। कविगण परोक्ष सत्ता के प्रति प्रेम का आभास देते हुए देखे जाते है। उनकी वाणी मे अलौकिक प्रेम की विकलता ही अधिक देखी जाती है। वे अपने प्रियतम या प्रियतमा ईश्वर के साक्षात्कार के अभाव मे तड़पते हुए पाए जाते हैं। इस प्रकार की रचनाओ को रहस्यवाद या छायावाद के नाम से सम्बोधित किया जाता है। वर्तमान काल मे प्रसादजी, पतजी, निरालाजी और महादेवीजी छायावादी कवियों में प्रमुख हैं। निरालाजी की छायावादी कविता की एक पक्ति लीजिए—

एक दिन थम जायगा रोदन तुम्हारे प्रेम अचल में।

प्रसादजी की भी कुछ छायावादी पक्तियाँ देखिए—

भरा नैनो में मन मे रूप ।
किसी छलिया का अमल अनूप ॥
जल–थल, मारुत व्योम मे जो छाया है सब ओर ।
खोज खोज कर खोगई मैं पागल–प्रेम–विभोर ॥

आजकल की छायावादी रचनाओ मे प्रायः प्रेमी हृदय की आर्द्रता और गम्भीरता वेसी नही देखी जाती जैसी जायसी और कबीर की रहस्य-वादी उक्तियो मे देखी जाती है । आजकल की छायावादी रचनाएँ कभी–कभी कल्पना–प्रधान भी देखी जाती है जो हृदय पर वैसा प्रभाव नही डालती । वास्तव मे हृदय से निकलनेवाली कविता ही हृदय मे प्रवेश करती है । जायसी की यह उक्ति—

पिउ हिरदय मे भेट न होई । को रे मिलाव कहौ केइ रोई ॥

पाठक के मर्म को स्पर्श किए बिना नही रह सकती ।

वर्तमान हिन्दी–कविता मे प्राकृतिक वर्णनो की प्रचुरता भी देखी जाती है । इसका कारण यह है कि हमारे कवि आजकल प्रकृति के प्रति अनुराग करने लगे है । आलकारिक रूप में प्रकृति का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता आया है । प्राचीन कविगण प्राकृतिक वस्तुओ का उपयोग अलकार–सामग्री के रूप में करते थे । इसके अतिरिक्त उद्दीपन विभाव के रूप मे भी प्रकृति काव्य मे प्रयुक्त होती थी । कुछ इने–गिने कवियो को छोड़कर प्रकृति को काव्य का वर्णनीय विषय किसी ने नही बनाया । कारण स्पष्ट है । हिन्दी के प्राचीन कवियो के हृदय में प्रकृति के प्रति कोई अनुराग न था । आजकल अँगरेजी-साहित्य के सम्पर्क से हमारे कवि प्रकृति चित्रण की ओर उन्मुख हुए हैं । प्रसादजी, पतजी, महादेवीजी, गुप्तजी, उपाध्यायजी, प० रामचन्द्रजी शुक्ल आदि प्रकृति का अच्छा चित्रण करते हैं । गुप्तजी की ये चार पक्तियाँ देखिए, जिनमें उन्होने एक पक्षी का कैसा स्वाभाविक चित्र खींचा है—

फैलाये यह एक पक्ष, लीला किये,
छाती पर भर दिये, अग ढीला किये ।

देखो, ग्रीवा भग-सग किस ढग से,
देख रहा है हमे विहग उमग से ॥

वर्तमान कवियो मे भी राम-कृष्ण की भक्ति के प्रति प्रेम बना है। समाज मे बहुत कुछ परिवर्तन हो जाने पर भी कविगण राम और कृष्ण को अपनी कविता के विषय बनाए हुए है। उनको इन अवतारो की लीलाओं के वर्णन मे आनन्द आता है। यद्यपि प्राचीन-काल मे अनेक कवियो ने राम और कृष्ण पर रचनाएँ की तो भी ये विषय आज तक अपनी नवीनता और आकर्षण बनाए हुए है। गुप्तजी ने 'पञ्चवटी', एव 'साकेत' राम-सम्बन्धी और 'द्वापर' कृष्ण-सन्बन्धी रचनाएँ की है। उपाध्यायजी का 'प्रियप्रवास' कृष्ण-सम्बन्धी रचना है। इनके अतिरिक्त इस प्रकार की अन्य रचनाएँ भी उपलब्ध है।

वर्तमान हिन्दी-कविता मे यह भी विशेषता देखी जाती है कि वह प्रबन्ध-काव्य से मुख मोड़कर मुक्तकं की ओर अग्रसर हो रही है। आज-कल मुक्तको की भरमार देखी जाती है। प्रायः कविगण छोटे-छोटे विषयो को लेकर पद्यात्मक निबन्ध लिखते है। जैसे—[illegible], फूल, विपाद, बसत, छाया, बालापन, विदा, ताडव, मिलन आदि। यह समय का प्रभाव है। आजकल कवियो मे प्रबन्ध-पटुता की कमी देखी जाती है। जो इने-गिने प्रबन्ध-काव्य हे वे कुछ अशो मे अस-फल रचनाएँ हैं। आजकल मानव-कार्य-क्षेत्र जटिल हो जाने के के कारण कवित्व-शक्ति के विकास के लिए समुचित स्थान ही नही रह गया है।

अब हम वर्तमान-कविता के विषय को छोड़कर उसकी शैली पर आते हैं। शैली मे भाषा, कल्पना, छन्द, व्याकरण आदि का प्रधान स्थान है। नर्तमान कविता का पद-विन्यास कोमल और अत्यन्त सुन्दर होता है। पर उसमे लाक्षणिकता लाने के लिए अँगरेजी भाषा का पल्ला पकड़ा जा रहा है। अँगरेजी भाषा की लाक्षणिक पदावलियो का ज्यों का त्यो अनुवाद करके आजकल के कवि अपनी रचनाओं को

सजाने लगे हैं। जैसे—पन्तजी ने Innocent eyes पदावली का अनुवाद 'अजान नयन' करके निम्नाङ्कित पंक्तियों में रख दिया है—

कान से मिले अजान नयन।
सहज था सजा सजीला तन॥

और रत्नाकरजी ने भी Vacant look के लिए 'चख रीतें' का प्रयोग किया है। देखिए—

ऊर्मि बिलखत बतरात चकित चितवत चखरीतें।

इसी प्रकार Dreamy Splendour के लिए 'स्वप्निल आभा' और Golden dream के लिए 'स्वर्णस्वप्न' के प्रयोग कवियों ने किए हैं। हिन्दी में लाक्षणिक शक्ति ऑंगरेजी से कम नहीं है। फिर क्या आवश्यकता है कि हम लाक्षणिक पदावलियों के लिए किसी विदेशी भाषा का आश्रय ग्रहण करें? हिन्दी की लाक्षणिक पदावलियों के प्रयोग के सम्बन्ध में यह ध्यान रहे कि वे अस्वाभाविक होकर खिलवाड़ न हो जायँ। अभिलाषाओं का सोना या जगना तो स्वाभाविक पदावली है पर उनका करवटें बदलना भद्दापन दिखाता है। जैसे—प्रसादजी की इन पंक्तियों को देखिए—

अभिलाषाओं की करवट, फिर सुप्त व्यथा का जगना।
सुख का सपना होजाना, भीगी पलकों का लगना॥

वर्तमान हिन्दी-कविता की भाषा प्रधानतः खड़ी बोली है। ब्रजभाषा का भी कोई-कोई कवि प्रयोग करता है पर ऐसे कवियों की संख्या बहुत थोड़ी है। वास्तव में ब्रजभाषा के दिन अब नहीं रहे हैं। उसकी धारा तो रत्नाकरजी के साथ ही रत्नाकर में विलीन हो गई। आजकल की कविता में प्रायः खड़ी बोली का बड़ा ही अव्यवस्थित तथा अपरिष्कृत रूप देखा जाता है। परन्तु बाबू मैथिलीशरण और ठाकुर गोपालशरणसिंह सरीखे कवियों की रचनाओं में खड़ी बोली अपना व्यवस्थित और विशुद्ध रूप भी दिखा रही है।

वर्तमान हिन्दी-कविता में ऑंगरेजी कविता के अनुकरण से

कल्पना का प्राधान्य देखा जाता है। कल्पना काव्य की सहायता अवश्य कर सकती है, पर वह काव्य का सब कुछ नही हो सकती। अलकारादि के रूप मे वह भावों की व्यजना अधिक मार्मिक कर सकती हैं, किन्तु वह काव्य का साध्य नहीं हो सकती। केवल कल्पना के साथ खिलवाड़ करने से वह चमत्कार-विधान भले ही कर दे, सच्ची कविता की उत्पत्ति नहीं कर सकती। आजकल के हिन्दी-कवि कल्पना के पीछे बुरी तरह पड़े हैं। देखिए पतजी की 'छाया' शीर्षक कविता की कुछ पक्तियाँ—

तरुवर की छायानुवाद-सी,
उपमा-सी, भावुकता-सी,
अविदित भावाकुल-भाषा-सी,
कटी-छटी नव-कविता-सी।

चमत्कार-विधान जिसको अभिव्यंजनावाद कहते है वर्तमान काव्य की प्रधान प्रवृत्ति है। अभिव्यजनावाद में उक्ति के चमत्कार को ही कविता माना जाता है, उक्ति द्वारा व्यजित भाव को नही। आजकल अधिकाश कवियो का लक्ष्य मानव-जीवन का चित्रण न करके मस्तिष्क को खरोच-खरोच कर अनूठी उक्तियाँ कह देना ही है। हमारे पूर्वजों ने काव्य का लक्ष्य मानव-जीवन के मार्मिक चित्रण द्वारा आत्मा की उच्चता रक्खा है। पश्चिमवालो की भाँति 'कला-कला ही के लिए' यह सिद्धान्त हमारे यहाँ कभी नहीं माना गया है। हमारे यहाँ काव्य-कला को साध्य न मानकर उसको साधन मात्र माना गया है। वास्तव मे चमत्कृत करने वाली उक्ति को कविता समझ बैठना भारी भूल है। काव्य का कार्य चमत्कार उत्पन्न करना नही बल्कि भावों द्वारा जीवन का चित्रण है। कविता का प्राण अतः भाव है कल्पना नही।

आजकल की कविता में अलंकारो का सुन्दर प्रयोग होता है। कविगण प्रायः मूर्त्त उपमेय के सादृश्य के लिए अमूर्त्त उपमानों का उपयोग करते हैं। जैसे—'शैशव की स्मृति सी सुकुमार' (पत)। इसी

प्रकार सूक्ष्म भावो की मूर्त्तोपमा भी देखी जाती है। जैसे—विषाद को इन पक्तियो में मूर्त्तिमान माना गया है—

कौन, प्रकृति के करुण काव्य सा, वृक्ष पत्र की मधु छाया मे।
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है, अमृत सदृश नश्वर काया में॥

(प्रसाद)

स्वाभाविकता भी वर्तमान कविता में प्रयुक्त अलंकारों की एक विशेषता है। देखिए निम्नांकित पक्तियो में पतजी लहर का सादृश्य नवोढा नायिका से दिखलाते हुए कैसी स्वाभाविक अलकार-योजना करते है—

नवोढा-बाल-लहर, अचानक उपकूलो के,
प्रसूनों के ढिंग रुक कर सरकती है सत्वर।

वर्तमान हिन्दी-कविता मे विभिन्न प्रकार के छदों का प्रयोग हो रहा है। नए नए छदो की उत्पत्ति हो रही है। यह सब अच्छा है। बहुत-सी रचनाएँ भिन्न-तुकांत छदों मे की जा रही हैं। प० अयोध्यासिह ~~उपाध्याय~~ ने 'प्रियप्रवास' नामक प्रबन्ध-काव्य भिन्न-तुकात छदो में ही लिखा है। इधर कुछ दिनो से बँगला के अनुकरण पर हमारी वर्तमान कविता छद से मुक्त होने का प्रयास कर रही है। छद रूपी बधन तोड़कर आजकल की कविता स्वछन्द रूप से विचरण करना चाहती है। पर यह अच्छा नहीं। छद से कविता में मधुरता आ जाती है, कविता सगीतमय हो जाती है। कविता को छद से अलग कर देने से उसकी प्रभावोत्पादिकता में भारी कमी आ जायगी। निरालाजी की 'जूही की कली' शीर्षक छंद-मुक्त कविता शुष्क और गद्य सी प्रतीत होती है।

कुछ कवि आजकल व्याकरण की भी उपेक्षा कर रहे हैं। पतजी तो शब्दोसे स्त्रीलिंग—पुल्लिग का पचड़ा ही हटाना चाहते हैं। वे 'व्याकरण की लोहे की कड़ियाँ' तोड़ने के पक्षपाती हैं। 'प्रभात' शब्द पुल्लिंग होते हुए भी पतजी की दृष्टि मे स्त्रीलिंग है। इसी प्रकार अन्य कई

प्रयोग भी व्याकरण से अनुमोदित नही है। विराम चिन्हो की आज-कल बडी दुर्दशा है। कोई कवि पूर्ण विराम (।) के स्थान पर सम्बोधन का चिह्न (!) लगा देता है, तो कोई आवश्यकता न होने पर भी डैश (—) लगा देता है। जैसे—

इन ललचाई आँखो ने—
देखा है कौन खजाना?

वर्तमान हिन्दी–कविता पाश्चात्य लिरिक (lyric) शैली का अनुकरण कर रही है। पतजी, महादेवीजी, निरालाजी, प्रसादजी आदि लिरिक अर्थात् प्रगीतात्मक शैली को अपनाए हुए है।

अत मे हमें यही कहना है कि वर्तमान हिन्दी कविता कुछ अशो मे दूसरो का अनुकरण कर रही है। यह हमारी कविता को शोभा नही देता। अनुकरण सदैव अच्छी बातों का होना चाहिए। जिन बातो का अनुकरण करने से हमारी कविता का रूप विकृत होता जा रहा है, उसकी शक्ति कम होती जा रही है, वह अपने उद्देश्य से परे हुई जा रही है, उनको त्यागने मे ही हमारा कल्याण है। अपनी कविता का स्वतन्त्र विकास करने में ही हमारा महत्व है।

हमारी शिक्षा और उसका माध्यम

रूप-रेखा:—

(१) प्रस्तावना —भारतवर्ष में विदेशी शिक्षा-माध्यम

(२) अँगरेजी द्वारा शिक्षा-प्रचार से हमारे देश को हानियाँ—

(क) भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर कुठाराघात

(ख) ज्ञानोपार्जन और ज्ञान-प्रसार में रुकावट

(३) मातृभाषा द्वारा शिक्षा-प्रचार से लाभ—

(क) समय की बचत

(ख) योग्यता मे वृद्धि

(ग) देश भर का शीघ्र सुशिक्षित हो सकना

(घ) मातृभाषा के साहित्य का भरा-पूरा हो जाना

(ङ) भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की संरक्षा

(४) उपसंहार—मातृ-भाषा को शिक्षा-माध्यम बनाने से देश और समाज की उन्नति

यह हमारा दुर्भाग्य है कि हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति प्रायः विदेशी वस्तुओ से की जाती है, हमको विदेशी रङ्ग मे रँगा जाता है। सब प्रकार से हमारा सम्बन्ध विदेशी वस्तुओ से जोड़ा जाता है। शिक्षा को ही ले लीजिए। हमारे देश मे शिक्षा मातृ-भाषा द्वारा नही दी जाती। उसका माध्यम विदेशी भाषा अँगरेजी है। ससार में भारतवर्ष के अतिरिक्त शायद ही कोई ऐसा सभ्य देश हो जहाँ विदेशी भाषा में शिक्षा दी जाती हो। यह बात समझ में नहीं आती कि कोई देश किस

प्रकार विदेशी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाकर उन्नति कर सकता है। ज्ञान-प्रसार मे किस प्रकार विदेशी भाषा मातृ-भाषा की अपेक्षा अधिक सफल हो सकती है ? जिस भाषा को बालक बचपन में अपनी माता से सीखता है उसी के द्वारा यदि उसको शिक्षित किया जाय, यदि उसको विविध विषयो का ज्ञान कराया जाय, तो वह सरलता से अपनी उन्नति कर सकता है। वास्तव मे मातृ-भाषा और शिक्षा का स्वाभाविक सम्बन्ध है। न जाने क्यो भारतवर्ष मे शिक्षा का सम्बन्ध विदेशी भाषा से जोड़कर उल्टी गगा बहाई जा रही है। कुछ महाशयो का कहना है कि यदि मातृ-भाषा शिक्षा का माध्यम बना दी जायगी तो अँगरेजी के अध्ययन मे कमी हो जायगी, जो हमारे लिए एक बुरी बात होगी। हाँ, ऐसा करने से निस्सदेह अँगरेजी के अध्ययन मे कमी हो जायगी। आजकल शिक्षा का माध्यम होने के कारण सभी विद्यार्थियो को अँगरेजी का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। जब वह शिक्षा का माध्यम नहीं रहेगी तब उसका पढना प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अनिवार्य न रह जायगा। अतः बहुत से विद्यार्थी उसका अध्ययन करना छोड़ देंगे। केवल वे ही उसको पढेगे जिनकी उस भाषा में रुचि होगी। पर यह समझ में नहीं आता कि अँगरेजी के पढने मे कमी हो जाने से देश या समाज को क्या हानि होगी। यह सच है कि अँगरेजी-साहित्य राष्ट्रीयता के भावो से भरा पड़ा है। अतः अँगरेजी के पढने से मनुष्य के हृदय मे राष्ट्रीय भावो का संचार होता है। पर क्या अँगरेजी न पढ़ते हुए हम उसके साहित्य के समुज्ज्वल अग के सम्पर्क में नहीं आ सकते ? क्यो नही ? अनुवादो द्वारा हम अपनी मातृ-भाषा मे अँगरेजी के राष्ट्रीयता-प्रधान साहित्य की अवतारणा कर सकते है और इस प्रकार उससे अपना सम्बन्ध रख सकते है।

अँगरेजी द्वारा शिक्षा-प्रचार से देश को भारी हानि हुई है। भारतीय स्त्री-पुरुषो मे आत्मसम्मान का भाव नही रह गया है। हम लोग सब बातो मे अपने को अँगरेजो से छोटा समझते हैं। अँगरेज

हमारे अनुकरणीय हो रहे हैं। उनके ताल-सुर पर हम नाचते हैं। उनकी सभ्यता का, उनकी रहन-सहन का, अनुकरण करने में हम अपना सौभाग्य एवं महत्व समझते हैं। हम मे यह विचार जड़ पकड़ गया है कि प्रत्येक भारतीय वस्तु बुरी है, उसको त्याग देना चाहिये। हम भारतीय रीति-नीति, भारतीय रहन-सहन, भारतीय वेश-भूषा, से मुख मोड़ रहे हैं। यहाँ तक कि हम भारतवासियें को भी नही चाहते। हमे विलायती मेमे अच्छी लगती है, भारतीय पतिव्रता पत्नी नहीं। हम अपनी मातृ-भाषा से घृणा करते हैं। उसमे बातचीत करना, उसमे कुछ लिखना, हमे क्षुद्र बनाता है। इस प्रकार हम जातीयता को खो बैठे हैं। भाषा का जातीयता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब हमने अपनी मातृ-भाषा से मुख मोड लिया तब जातीयता कैसे रह सकती थी? वस्तुतः आज हमारी जो दुर्दशा है उसका उत्तरदायित्व बहुत कुछ ऑगरेजी द्वारा शिक्षा-प्रदान पर है।

ऑगरेजी द्वारा शिक्षा दी जाने से ज्ञानोपार्जन तथा ज्ञान-प्रसार मे भी पर्याप्त रुकावट हुई है। भारतीय विद्यार्थी को किसी विषय के अध्ययन करते समय भाषा-सम्बन्धी गुत्थियाँ सुलझानी पडती हैं। जब वह ऑगरेजी भाषा मे लिखी हुई इतिहास, विज्ञान आदि की पुस्तके पढता है तब पहले भाषा को समझने का प्रयत्न करता है और तत्पश्चात् विषय को। यदि किसी कारण वह भाषा को नहीं समझ पाता तो विषय को समझना उसके लिए असम्भव हो जाता है। विदेशी भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना टेढ़ी खीर है। अतः भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयाँ उपस्थित हुआ ही करती है। परिणाम यह होता है कि विभिन्न विषयों के ज्ञानोपार्जन मे भारतीय विद्यार्थियो को बड़ी कठिनाई पडती है और बहुत अधिक समय लगता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक भारतवासी के ऑगरेजी पढ़े-लिखे न होने के कारण ज्ञान का भडार उसके लिए बन्द रहता इतने अधिक वर्षों मे थोड़े से लोग ऑगरेजी पढ़ पाये है। वे ही शिक्षित

हैं। उन्होंने ही कुछ ज्ञान प्राप्त किया है। शेष अशिक्षित बने हुए हैं। अतः ज्ञान के प्रसार मे बड़ी बाधा हो रही है।

अब हमे देखना है कि मातृभाषा द्वारा शिक्षा प्रदान करने से क्या लाभ हो सकते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि मातृ-भाषा को सीखने मे लोगों को कठिनाई नही पड़ती है, क्योंकि बाल्यावस्था से ही उसके साथ उनका सम्बन्ध हो जाता है। बिना पढाए भी बालक टूटी-फूटी मातृ-भाषा बोल ही लेता है। अतः शिक्षा देने मे आजकल की अपेक्षा बहुत कम समय लगेगा। जो विद्यार्थी आजकल २४-२५ वर्ष की आयु मे शिक्षा समाप्त करता है वह १८-२० वर्ष की अवस्था मे ही सुशिक्षित हो सकेगा। विद्यार्थियो को परदेशी भाषा सीखना कठिन होता है, विशेषतः अँगरेजी जैसी भाषा सीखना जो उनकी मातृ-भाषा से बिल्कुल नहीं मिलती। यह सोचने की बात है कि भारतवर्ष मे बालक-बालिकाओं को कितना समय, कितना परिश्रम और कितनी शक्ति अगरेजी सीखने मे व्यर्थ लगानी पड़ती है। यदि उस समय, उस परिश्रम, उस शक्ति, को आवश्यक और उपयोगी ज्ञान की प्राप्ति म लगाया जाय तो इससे देश की शीघ्र उन्नति हो सकती है।

मातृ-भाषा द्वारा शिक्षा देने से विद्यार्थियो की योग्यता भी बढ़ जायगी। आजकल प्रायः देखा जाता है कि एम०ए० पास करने पर भी विद्यार्थी अपने विषय का पडित नही हो पाता। इसका कारण यह है कि विदेशी भाषा में लिखित विचार और बाते पूर्ण रूप से उसकी समझ में नही आती। पुस्तको मे कई स्थलो पर भाषा के भँवर में पड़कर विद्यार्थी प्रतिपादित तथ्य तक नही पहुँचता। अतः उसका ज्ञान अधूरा रहता है, उसमें अपने विषय की अच्छी योग्यता नहीं होती।

आजकल देश का अधिकाश भाग अशिक्षित है। प्रत्येक मनुष्य अँगरेजी नही पढ सकता, क्योंकि अँगरेजी शिक्षा बहुमूल्य है और मनुष्य प्रायः दरिद्र हैं। बिना अँगरेजी पढ़े कैसे शिक्षित बना जाय? यदि शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा हो तो उक्त कठिनाई नही रह

जायगी। शिक्षा के लिए अधिक व्यय नही करना पडेगा। ऐसा होने से ज्ञान का द्वार सर्व साधारण के लिए खुल जायगा। देश का प्रत्येक मनुष्य भगवती वीणापाणि के प्रसाद का पात्र हो सकेगा। चारों ओर जागृति हो जायगी। कुरीतियाँ, ढोंग, आडम्बर, अज्ञान, भय आदि चमगादडे एव उलूक ज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश मे न ठहर सकेंगे। भारतवर्ष मे कालिदास, वाल्मीकि पुन. व्यास, तुलसी सरीखे अगणित महानुभाव पैदा होंगे। ससार मे पुनः भारतवर्ष की कीर्ति-पताका फहरायगी। सभ्यता की दौड़ मे वह सबसे आगे निकल जायगा।

यदि मातृ-भाषा द्वारा शिक्षा दी जाया करे तो हमारे देश की सभी भाषाओं का साहित्य भी भरा-पूरा हो जाय। आजकल तो शिक्षा का माध्यम अँगरेजी होने के कारण विद्यार्थी अपनी सम्पूर्ण शक्तियां उसी के ज्ञान प्राप्त करने मे जुटा देते है। अँगरेजी पर इतना जोर दिया जाता है कि विद्यार्थी अपनी मातृ-भाषा को भली भाँति सीख भी नही सकते, उसके साहित्य को भरा-पूरा बनाने की तो हम बात ही क्या कहे। कितने ही विद्यार्थी तो अँगरेजी को अधिक महत्व दिए जाने के कारण अपनी मातृ-भाषा का न सम्मान करते है न उससे प्रेम। यहाँ तक कि वे उसे घृणा की दृष्टि से देखते है। मातृ-भाषा बोलने मे शर्माते है। शुद्ध मातृ-भाषा बोल भी नही सकते। परिणाम यह होता है कि मातृ-भाषा का साहित्य विकसित नहीं होता, उसे प्रौढ़ता नही प्राप्त होती, उसका आकार भी नहीं बढ़ता। जब हमारे विद्यार्थियो से अँगरेजी भाषा का पल्ला छुड़ा दिया जायगा, उनको अपनी भाषा में शिक्षा मिलेगी तब क्या कारण है स्वदेशी साहित्य उन्नति न करे? हमारे विद्यार्थी अपनी भाषा की उन्नति मे सलग्न होगे। मातृ-भाषा में विविध विषयों पर अनूठे-अनूठे ग्रन्थ लिखे जायँगे। लेखकों को प्रोत्साहन मिलेगा; क्योंकि उनकी पुस्तकें पढनेवालो की सख्या बढ़ जायगी।

ये सब लाभ तो होगे ही पर एक सबसे बड़ा यह लाभ यह होगा कि भारतीय सभ्यता और सस्कृति की रक्षा हो जायगी। जैसा कि पूर्व

ही बतलाया जा चुका है भारतवर्ष दिन प्रतिदिन अपनी सभ्यता से पृथक् होता जा रहा है। किसी भी देश के लिए अपनी सभ्यता खो देना आत्मघातक सिद्ध होता है। सभ्यता की रक्षा प्राण देकर भी करनी चाहिए। यदि बच्चे आरभ से ही मातृ-भाषा पढेगे तो उनके हृदय में भारतीय सस्कृति के भाव जड़ पकड़ जायँगे। वे भारतीय गौरव, भारतीय आदर्श और भारतीय रहन–सहन के भक्त होगे। कभी उन पर विदेशी रंग न चढ़ने पायगा।

इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए भारतवर्ष के हित में यह नितान्त आवश्यक है कि यँहाँ शीघ्र मातृ–भाषा शिक्षा का माध्यम बना दी जाय। जिस प्रान्त की जो मातृ-भाषा हो उस प्रान्त को उसी के द्वारा शिक्षा दी जाय। वर्तमान शिक्षा–पद्धति मे जहाँ अन्य दोष है वहाँ माध्यम–सम्बन्धी दोष भी विद्यमान है। इस दोष के निराकरण करने से हमारे देश का, हमारे साहित्य का, हमारी संस्कृति का, कल्याण होगा। इस दोष के निराकरण से हमारी उन्नति होगी। भारतेन्दुजी ने ठीक ही कहा है—

> निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
> बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल ॥

भक्ति का शील अथवा सदाचार से सम्बन्ध

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—शील बिना भक्ति का अप्राप्य होना

(२) राम-भक्ति के प्रचार का कारण राम की शीलयुक्त होना

(३) कृष्ण-भक्ति के कम प्रचार का कारण कृष्ण के शील निरूपण की कमी होना

(४) भक्त के लिए शील की आवश्यकता

(५) शील द्वारा भक्ति का स्थायित्व प्राप्त करना

(६) उपसंहार—शील और भक्ति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध ; भक्ति द्वारा-प्राप्त शील की ज्ञान द्वारा प्राप्त शील से भिन्नता

भक्ति का शील से घनिष्ठ सम्बन्ध है । शील के बिना भक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती । भक्ति के आलम्बन और आश्रय दोनो के लिए श्रेष्ठ आचरण की आवश्यकता है । जिसके प्रति भक्ति की जाय वह भी सदाचारी हो और जो भक्ति की ओर उन्मुख हो वह भी शुद्ध और सात्विक जीवन व्यतीत करता हो । यदि आलम्बन मे आचरण की सभ्यता के दर्शन न होंगे तो वह कभी किसी मनुष्य के हृदय को अपनी ओर आकर्षित न कर सकेगा । यदि अश्राय का आचरण कलुषित होगा तो वह कभी भक्ति का अधिकारी न हो सकेगा । वह किसी की भक्ति न करेगा, क्योंकि शील-रहित हृदय किसी के महत्व को स्वीकार नहीं करता है और महत्वानुभूति के बिना भक्ति हो ही कैसे सकती है ?

राम-भक्ति का जो जनता में इतना अधिक प्रचार हुआ है उसका कारण यही है कि गोस्वामी तुलसीदास ने अपने काव्य में राम के शील

का विशद एवं मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। उन्होने राम के स्वभाव मे शील के चरम उत्कर्ष की झाँकी कराई है। यही कारण है कि आज भी प्रत्येक हिन्दू राम के चरित्र को अपना आदर्श बनाए हुए है। वह राम के मातृ-प्रेम, पितृभक्ति, सत्यव्रत, उदारता, शरणागत-रक्षा, कृतज्ञता, कोमलता, धीरता, गभीरता आदि स्वर्गीय गुणों पर मुग्ध है और उनकी भक्ति करता है। आज प्रत्येक हिन्दू का जीवन राममय है। हो भी क्यों न ? राम सरीखी दिव्य विभूति अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। गोस्वामीजी ने 'विनयपत्रिका' मे राम के शील का कैसा भव्य चित्रण किया है, देखिए—

सिसुपन ते पितु मातु बधु गुरु सेवक सचिव सखाउ।
कहत राम-बिधु-बदन रिसोहैं सपनेहुँ लख्यो न काउ॥
खेलत सग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ॥
सिला साप–सताप-बिगत भइ परसत पावन पाउ।
दई सुगति सो न हेरि हरष हिय, चरन छुए पछिताउ॥
भवधनु भजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गए ताउ।
छमि अपराध छमाइ पाँइ परि, इतौ न अमत समाउ॥
कह्यो राज, बन दियो नरिबस, गीर गलानि गयो राउ।
ता कुमातु को मन जोगवत ज्यो निज तनु मरम कुघाउ॥
कपि सेवावस भये कनौडे, कह्यो पवन सुत आउ।
देबे को न कछू रिनियाँ हौ, धनिक तू पत्र लिखाउ॥
अपनाए सुग्रीव बिभीपन, तिन न तज्यो छल–छाउ।
भरत सभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ॥
निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ।
सकृत प्रनाम प्रनत–जस बरनत सुनत कहत फिर गाउ॥

यद्यपि सूरदासजी ने भी अपने काव्य द्वारा कृष्ण-भक्ति का प्रचार जनता मे करना चाहा तथापि उन्होने अपने उपास्य देव कृष्ण के

सौदर्य एव प्रेम तक ही अपने को सीमित रक्खा। उनके-शील चित्रण मे सूर की वृत्ति न रमी। यत्र-तत्र भले ही कृष्ण के स्वभाव का दिव्य रूप दिखला दिया गया हो। ऐसा होने से, कृष्ण मे शील का अभाव दिखलाने से, जनता ने कृष्ण-भक्ति को वैसा नहीं अपनाया जैसा रामभक्ति को।

अब भक्त का शील भी देखिए। जितने भक्त हुए है सभी श्रेष्ठ आचरण वाले थे। गोस्वामी तुलसीदास अत्यन्त सरल, शात, गभीर, नम्र और नरभिमान व्यक्ति थे। मर्यादा की रक्षा करना उनके स्वभाव का एक अग था। सारी 'विनय-पत्रिका' दैन्य के उद्गारो से भरी पड़ी है। 'रामचरित-मानस' के आदि मे उन्होंने कैसे दीनता से भरे हुए बचन कहे है, देखिए—

कबि न होउँ, नहि चतुर प्रबीना। सकल कला सब बिद्या-हीना ॥
कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे ॥

वस्तुतः शील भक्ति का एक आवश्यक तथा अनिवार्य अग है। स्वय रामचन्द्रजी ने 'रामचरित-मानस' मे एक स्थान पर कहा है—

पापवत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ ॥

गोस्वामीजी ने भी कहा है—

प्रीति राम सो, नीति-पथ चलिय, रागरिसि जीति।
तुलसी सतन के मते इहै भगति की रीति ॥

स्वय राम-भक्ति का अधिकारी होने के लिए उन्होंने 'विनय-पत्रिका' मे इस प्रकार कहा है—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो?
श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा ते सत-सुभाव गहौंगो ॥
यथा लाभ सतोष सदा, काहू सौ कछु न चहौंगो।
परहित-निरत निरतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ॥
परुष बचन अति दुसह श्रवण सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर गुन, नहिं दोख कहौंगो ॥

परिहरि देह-जनित चिंता, दुख सुख समबुद्धि सहौगो।
तुलसिदास प्रभु येहि पथ रहि अबिचल हरिभक्ति लहौगो ॥

यद्यपि भक्ति की प्राप्ति के लिए पहले सदाचार की आवश्यकता है पर उसको स्थायी बनानेवाली वस्तु भक्ति ही होती है। भक्ति ही द्वारा भक्त अपने आचरण को धीरे-धीरे सुधारता हुआ उसको ऊँची-से-ऊँची अवस्था तक पहुँचा देता है। वह अपने उपास्यदेव मे जिन श्रेष्ठ गुणों को देखता है उनको अपने मे भी ढूँढता है। यदि उसे वे गुण अपने मे नहीं मिलते तो वह उनकी प्राप्ति का प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह उच्चता की ओर अग्रसर होता है। भक्त के लिए उसका इष्टदेव ही सदाचार की कसौटी है। वह सदैव उसी कसौटी पर अपने आपको कसता रहता है और अपनी मलिनता को दूर करता रहता है। उसके हृदय मे तुलसी के समान इस प्रकार के भाव उठते हैं—

राम सो बड़ो है कौन, मोसो कौन छोटो ?
राम सो खरो है कौन, मोसों कौन खोटो ?

प्रभु की अनन्त शक्ति के सामने, उसके प्रकाशमान चरित्र के समक्ष, भक्त अपनी असामर्थ्य का, अपने अधकार-मय जीवन का, साक्षात्कार करता है। स्वामी की पवित्रता की तुलना मे वह अपने मे दोष ही दोष देखता है। उसके हृदय मे क्षोभ की अग्नि धधकने लगती है और वह स्वतः अपने आचरण की शुद्धि मे तत्पर हो जाता है। गोस्वामीजी के क्षोभ का एक उदाहरण देखिए—

जानत हू निज पाप जलधि जिय, जलसीकर सम सुनत लरौं।
रजसम पर-अवगुन सुमेरु करि, गुन गिरिसम रज ते निदरौं ॥

अत में आत्मशुद्धि होने पर पापो का अन्त हो जाता है और मनुष्य बुरे कामो से मुँह मोड़ लेता है। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर, आदि उसका पल्ला छोड़ देते हैं। वह 'सत' पद का अधिकारी हो जाता है। ससार में उसका सम्मान होने लगता है। लोक और परलोक

दोनों मे उसकी आत्मा शाति से रहती है। ऐसी अवस्था के विषय में गोस्वामीजी कहते हैं—

> तुम अपनायो, तब जानिहौ जब मन फिरि परिहै।
> सुत की प्रीति, प्रतीति मीत की, नृप ज्यो डर डरिहै॥
> हरषि है न अति आदरे, निदरे न जरि मरिहै।
> हानि लाभ दुख सुख सबै समचित हित अनहित कलि कुचाल परिहरिहै॥

अतः स्पष्ट है कि भक्ति और सदाचार मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। सदाचार बिना भक्ति की उपलब्धि नहीं हो सकती और भक्ति बिना आत्म-शुद्धि होना दुर्लभ है। ज्ञान द्वारा सदाचार की प्राप्ति कठिन होती है और अस्थायी भी। भक्ति द्वारा सदाचार सरलता से प्राप्त किया जा सकता है और वह स्थायी भी होता है। यह सभव है कि ज्ञानी माया में फँसकर सदाचार को जवाब दे दे पर भक्त कभी अपने स्थान से च्युत नहीं हो सकता। कहा भी है—

> ग्यान बिराग जोग बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥
> माया भगति सुनहु तुम दोऊ। नारि बर्ग जानहिं सब कोऊ॥
> मोह न नारि-नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा॥

हिन्दी–कविता में प्रकृति–चित्रण

रूप-रेखा:—

(१) प्रस्तावना—कविता और मानव-जीवन का सम्बन्ध; मानव-जीवन और प्रकृति का सम्बन्ध

(२) संस्कृत काव्य में प्रकृति चित्रण

(३) हिन्दी–कविता में तीन प्रकार का प्रकृति–चित्रण—

(क) अलंकारों के उपमान-रूप मे

(ख) भावों के उद्दीपन-रूप मे

(ग) वर्णनीय विषय के रूप में—

(अ) वस्तु–नामावली

(आ) संश्लिष्ट योजनात्मक चित्रण

(इ) अनुरंजनकारी दृश्यों का ही समावेश

(ई) प्रकृति के भोले-भाले सादा रूप का चित्रण

(४) उपसंहार—आधुनिक कवियों का प्रकृति–प्रेम.

"कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है।" दूसरे शब्दों में हम यो कह सकते हैं कि सृष्टि के नाना रूपो के साथ मनुष्य के हृदय का सामजस्य स्थापित करना ही कविता का लक्ष्य है। मानव-हृदय अनेक भावो—प्रेम, करुणा, क्रोध, उत्साह, भय आदि—का भण्डार है। इन भावों का व्यायाम तभी हो सकता है जब कविता इनका सम्बन्ध संसार की विभिन्न वस्तुओ के साथ स्थापित कर दे, जब

कविता जगत और जीवन के व्यापारो का मार्मिक प्रतिपादन करती हुई हमारी हृदय-वृत्तियो को उनमे लीन करदे । इस प्रकार हम देखते हैं कि कविता के दो क्षेत्र हैं—मानव-जीवन और प्रकृति । हिन्दी के कवियो मे अधिकाश ने मानव-जीवन को ही अपनी कविता का विषय चुना है, प्रकृति को नही । पर कहना न होगा कि प्रकृति मे हमारे भावो को जाग्रत एव सशक्त करने की शक्ति कम नही, बल्कि मानव-जीनन की अपेक्षा अधिक है । फूल, पत्ती, पक्षी, पशु, मेघ, नदी, नाले, निर्झर, खेत, विद्युत आदि प्राकृतिक वस्तुओं द्वारा हमारा हृदय अधिक आकृष्ट होता है । जब हम लहलहाते हुए हरे-भरे खेतो को देखते हैं तब प्रसन्न होते हैं । जब हम किसी वाटिका मे विकसित फूलो को देखते हैं तब आनन्द से भर जाते हैं । जब हम अरुणोदय के समय लाल-पीले मेघो को देखते है तब हमारा मन उनकी ओर आकर्षित होता है । जब हम चॉदी के समान उज्ज्वल नदी या झरने को चट्टानो के साथ अठ-खेलियाँ करता हुआ देखते है तब हमारा मन उसमे लीन हो जाता है । अतः यह आवश्यक है कि कवि हमारे भावो के उद्‌बोधन के लिए प्राकृतिक दृश्यो का वर्णन करे, प्रकृति को कविता का विषय बनाकर उसका मर्मस्पर्शी चित्र अकित करे ।

सस्कृत-काव्य मे प्राकृतिक दृश्यो के बहुत सुन्दर वर्णन मिलते हैं । आदि कवि वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि ने प्रकृति के नाना रूपोंके साथ अपने हृदय का पूर्ण सामजस्य दिखलाया है । रामायण, कुमार-सभव, रघुवश, उत्तरामचरित आदि मे प्रकृति के बहुत ही सुन्दर सश्लिष्ट चित्र पाये जाते हैं । वाल्मीकिजी ने प्यासे पक्षियो द्वारा पत्तों की नोकों पर लगे हुए जल को पीने के दृश्य का कैसा सुन्दर वर्णन किया है, देखिए—

मुक्तासकाश सलिल पतद्वै
सुनिर्मलं पत्र पुटेषु लग्नम् ।
हृष्टा विवर्णच्छदना विहंगाः
सुरेन्द्रदत्तं तृषिताः पिबति ॥

वास्तव मे इस प्रकार के वर्णनो मे कवि ने प्रकृति को वर्णनीय विषय बनाया है, किसी भाव की सहायक नहीं।

हिन्दी-कविता मे जो कुछ प्रकृति-वर्णन मिलता है वह प्रायः तीन प्रकार का है—(१) अलकारो के उपमान-स्वरूप मे (२) भावो के उद्दीपन-स्वरूप मे और (३) वर्णनीय विषय-स्वरूप मे।

हिन्दी-कविता मे प्रकृति का उपयोग उपमान-रूप मे् बहुत हुआ है। कवियो ने कहीं पर नायिका के मुख को कमल के समान सुन्दर बताया है, तो कहीं पर निर्दय मनुष्य के हृदय को पत्थर के समान कठोर। कहीं पर अधर को विद्रुम या बिम्बाफल से समानता दी है, तो कहीं पर शरीर को विद्युत के समान कहा है। कहीं पर मुख मे चन्द्रमा की सम्भावना की है, तो कहीं पर नेत्रो में मछली की। गोस्वामी तुलसीदास की निम्नाकित दो पक्तियाँ देखिए जिनमे उन्होंने प्रकृति का इसी रूप मे उपयोग किया है—

लता-भवन ते प्रगट भए, तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल विधु, जलद पटल बिलगाइ॥

सूरदासजी का भी यह वर्णन देखिए—

देखि री! हरि के चचल नैन।
खजन मीन मृगज चपलाई, नहि पटतर एक सैन॥
राजिवदल, इदीवर, शतदल, कमल, कुशेशय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहि वै बिगसत, ये बिगसे दिन राति॥
अरुन असित सित झलक पलक प्रति को बरनै उपमाय।
मनो सरस्वति गग जमुन मिलि आगम कीन्हो आय॥

इसी प्रकार एक कवि ने रोती हुई नायिका का वर्णन किया है। देखिए—

कनक लतानि इन्दु, इन्दु माँहि अरबिन्द,
झरे अरबिन्दन ते बुन्द मकरन्द की।

इस प्रकार सभी हिन्दी-कवियो ने नख-शिख-वर्णन में प्रकृति का भद्दा उपयोग किया है। वास्तव मे अलकारो की सामग्री के रूप मे प्रकृति का कुछ भी वर्णन नहीं होता। ऐसे स्थलो पर पाठक या श्रोता का ध्यान उपमेय पर ही रहता है, उपमान पर नही। प्रकृति उपमेय की सहायक होकर आती है। प्रधानता उपमेय की ही रहती है। कवि का उद्देश्य भी उपमेय-वर्णन ही होता है।

भावों के उद्दीपन-रूप मे भी हिन्दी के कवियो ने प्राकृतिक दृश्यो का अधिक वर्णन किया है। शृङ्गार-रस में शीतल पवन, निर्जन उद्यान खिले हुए पुष्प, चाँदनी रात आदि प्रकृति के रूप उद्दीपन-विभाव का कार्य करते हैं। इनसे प्रेम का भाव उद्दीप्त होता है, प्रज्वलित होता है। देखिए तुलसीदासजी की सीता के वियोग को प्रकृति किस प्रकार उद्दीप्त करती है—

नूतन किसलय मनहु कृसानू। काल निसा सम निसि शशि भानू॥
कुबलय बिपिन कुत बन सरिसा। बारिद तप्त तेल जनु बरिसा॥

सूरदासजी की गोपिकाएँ भी कुजो को देखकर विरहोद्दीप्त होती है। वे कहतीं हैं—

बिन गोपाल बैरिन भई कुजैं।
तब ये लता लगति अति शीतल, अब भई विपम ज्वाल की पुंजै॥

बिहारी की भी नायिका कहती है—

बिगसत नवबल्ली कुसुम, निकसत परिमल पाय।
परसि प्रजारति बिरह-हिय, बरसिरहे की बाय॥

प्राचीन हिन्दी-कवियो ने प्रकृति को वर्णनीय विषय बहुत कम बनाया है। हाँ, उधर कुछ दिनों से कवियों का ध्यान इसकी ओर आकर्षित हुआ है। आजकल के कवि झरना, पुष्प, बसन्त, पावस आदि पर स्वतन्त्र रचनाएँ करने लगे हैं। इस प्रकार की रचनाएँ दो श्रेणियों में रक्खी जा सकती हैं। एक श्रेणी को वस्तुनामावली और दूसरी को संश्लिष्ट योजनात्मक चित्रण कह सकते हैं। वस्तुनामावली में

प्राकृतिक वस्तुओं का परिगणन मात्र रहता है। कवि उनका नाम गिनाता चलता है। सश्लिष्ट योजनात्मक चित्रण मे किसी दृश्य के भिन्न-भिन्न अङ्गो का उसकी परिस्थिति के साथ ऐसा मिला हुआ वर्णन रहता है कि पाठक या श्रोता के नेत्रो के सामने उस दृश्य का चित्र-सा उपस्थित हो जाता है।

पहले वस्तुनामावली के रूप में प्रकृति का वर्णन देखिए। आचार्य केशवदास विश्वामित्र के आश्रम का वर्णन करते हुए कहते हैं—

तरु तालीस तमाल ताल हिताल मनोहर।
मजुल बजुल तिलक लकुच कुल नारिकेर वर॥
एला ललित लवग सग पुगीफल सौहैं।
सारी शुक कुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहैं॥

इसमे वृक्षो और पक्षियो के नाम तो गिनाए ही गए हैं, पर एक बड़ा दोप यह है कि स्थान का ध्यान बिलकुल नहीं रक्खा गया है। केशवदास ने यह नही विचारा कि ये सब वस्तुएँ मगध के जगल में होती भी है या नही। वस्तुतः केशवदास ने स्वय प्रकृति का कभी निरीक्षण नही किया। वे तो अपने काव्य मे प्रकृति की अवतारणा कल्पना द्वारा करते थे। जायसी मे भी वस्तु नामावली की प्रवृत्ति देखी जाती है। देखिए भिन्न-भिन्न वृक्ष और पक्षियो के नाम उन्होने किस प्रकार दिए हैं—

लवँग सुपारी जायफर सब फर फरे अपूर।
आस-पास घन इमिली औ घन तार खजूर॥

× × × ×

मोर होत बोलहि चुहचूही। बोलहि पाँडुक "एकै तूही।"
सारौं सुआ जों रहचह करही। कुरहि परेवा औ करबरही॥
"पीव-पीव" कर लाग पपीहा। "तुही-तुही" कर गडुरी जीहा।
"कुहू-कुहू" करि [illegible]। औ भिंगराज बोल बहु भाखा॥

अब संश्लिष्ट योजनात्मक चित्रण की ओर आइए। गोस्वामी

तुलसीदास ने "गीतावली" मे चित्रकूट का जो वर्णन किया है उसको पढकर नेत्रो के सम्मुख चित्रकूट का चित्र-सा खिच जाता है। कुछ पक्तियाँ देखिए—

सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रँगमगे सृङ्गनि।
मनहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर-मुनि-भृङ्गनि॥
सिखर-परस घन घटहि मिलति बगपाँति सो छबि कबि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी॥

इनमे ध्वनि और वर्ण के विन्यास से बिंब-ग्रहण कराने की शक्ति आगई है। वर्तमान काल मे बाबू मैथिलीशरण गुप्त और प० रामचन्द्र शुक्ल के कतिपय प्रकृति-वर्णन इसी कोटि के है। देखिये—

आगे आगे भाग रहा है मोर यह,
पद्मो से पथ झाड़, चपल चितचोर यह।
मचक-मचक वह कीश-मण्डली खेलती,
लचक-लचक बच डाल भार है झेलती॥

(मैथिलीशरण गुप्त)

बैठे भुजगे डार पै कहुँ रहे पूँछ हिलाय हैं।
पै आज झपटत नेकु नहि तितलीन पर दरसाय हैं।
या फूल ते वा फूल पै जो चपल गति सो धावती।
सित, पीत, नील, सुरग चित्रित पख को फरकावती॥

(रामचन्द्र शुक्ल)

प्रकृति को आलम्बन बनानेवाली कविताओ का एक दूसरे ढंग से भी विभाजन किया जा सकता है। एक वे है जिनमे प्रकृति के अनुरंजनकारी दृश्यो ही का समावेश हुआ है। दूसरी वे है जिनमे प्रकृति के भोले-भाले रूप को चित्रित किया गया है। श्रीधर पाठक, प०सुमित्रानंदन पन्त आदि कवि की रचनाओ मे प्रकृति का चित्ताकर्षक रूप ही देखा जाता है। पाठकजी के 'काश्मीर-वर्णन' की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

चहुँ दिसि हिम गिरि-सिखर, हीर-मनि मौलि-अवलि मनु ।
स्रवत सरित-सित-धार, द्रवत सोइ चन्द्रहार जनु ॥
फल फूलनि छवि छटा छई जो वन उपवन की ।
उदित भई मनु अवनि-उदर सो निधि रतनन की ॥

पन्तजी का गगा-वर्णन देखिए—

तापस-बाला-सी गंगा कल, शशि-मुख से दीपित मृदु-करतल,
लहरे उर पर कोमल कुन्तल ।
गोरे अगो पर सिहर-सिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर,
चचल अचल सा नीलाम्बर ।
साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी है वर्तुल मृदुल लहर ।

कहने की आवश्यकता नही कि इनमे संश्लिष्ट योजना का अभाव है ।

प्रकृति के भोले-भाले रूप को चित्रित करनेवाले कवि हैं प० रामचन्द्र शुक्ल । शुक्लजी को गुलाब के फूल को देखकर उतना ही आनन्द आता है जितना एक कटीली झाड़ी को देखकर । प्रकृति के सामान्य रूप को देखने की अन्तर्दृष्टि इन्ही को मिली है । यही कारण है कि आप ऐसे वर्णन भी करते है—

केतकी तर बसत कारो नाग फेटी मारि ।

पं० अयोध्यासिह उपाध्याय भी प्रकृति का अच्छा वर्णन करते हैं । गुप्तजी की भाँति ये भी प्रकृति का सुन्दर रूप चित्रित करते हैं, परन्तु शुक्लजी की भाँति इनका चित्त सामान्य दृश्यो में नही रमता । इनका संध्या का वर्णन देखिए—

दिवस का अवसान समीप था ।
गगन था कुछ लोहित हो चला ॥
तरु शिखा पर थी अवराजती ।
कमलिनी-कुल बल्लभ की प्रभा ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान काल के हिन्दी--कवियो को प्रकृति से अनुराग हो चला है। हमारी कविता में प्रकृति के जो साग़ और सश्लिष्ट चित्रो का प्रायः अभाव पाया जाता है, आशा है, उसकी पूर्ति शीघ्र हो जावेगी। प्रकृति मानव-जाति की चिर सहचरी है। उसका हमारे जीवन मे महत्वपूर्ण स्थान है। उसकी ओर उदासीन रहना मानव--जाति के लिए हितकर नहीं। कवियो द्वारा मनुष्य और प्रकृति के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा होने मे मनुष्य जाति का कल्याण है।

हिन्दू-उर्दू-समस्या

रूप-रेखा:—

(१) प्रस्तावना—देश की उन्नति मे बाधा

उर्दू की जन्मदात्री हिन्दी होना और दोनों का सम्बन्ध-विच्छेद

(२) हिन्दी-उर्दू-विरोध की प्राचीनता

(३) हिन्दी-उर्दू-विरोध का कारण

(४) हिन्दी को सस्कृत से सम्बद्ध रहने की आवश्यकता—

(क) भारतीय आर्य-भाषाओ से सम्बन्ध-विच्छेद की आशंका

(ख) संस्कृत शब्दो के प्रयोग से शैली में प्रौढ़ता तथा गरिमा का आना

(ग) नये विचारों की अभिव्यक्ति के लिए संस्कृत में अक्षय शब्द-भण्डार का होना

(घ) हिन्दू-सभ्यता की रक्षा

(५) समस्या की भयंकरता और संयुक्तप्रान्त को हानि

(६) समस्या का भारतीय पहलू

(७) उपसंहार—सारांश

भारतवर्ष के अभ्युत्थान के लिए हमें अभी न जाने कितने रोडे बटोर कर मार्ग परिष्कृत करना है, अभी न जाने कितनी समस्याओ को हल करना है। हिन्दी-उर्दू-समस्या भी उन महत्वपूर्ण समस्याओ मे से एक है जिनके हल पर भारतवर्ष की उन्नति निर्भर है। यद्यपि उर्दू का

जन्म हिन्दी से हुआ है तो भी वह हिन्दी का विरोध करती है। अरबी-फारसी की गोद में खेलकर अब उसने अपनी जननी को भुला दिया है। वह जितना प्रेम अरबी-फारसी से रखती है उतना ही द्वेष हिन्दी से रखती है। दिन प्रतिदिन वह हिन्दी से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर रही है। उसका वाक्य-विन्यास, उसका व्याकरण, उसकी लिपि, उसका शब्द-भडार, फारसी रग मे रॅग रहा है।

हिन्दू और उर्दू का विरोध बहुत प्राचीन है। हॉ, आजकल उसने भीषण रूप अवश्य धारण कर लिया है। प्राचीन काल से ही इस विरोध के कारण हिन्दी-भाषा के दो रूप—शुद्ध भाषा और उर्दू-मिश्रित भाषा-दिखलाई देते है। गद्य के प्रारम्भिक लेखकों मे हिन्दी और उर्दू का विरोध स्पष्टतया दृष्टिगत होता है। इस विरोध के प्रधान नायक इशाअल्ला खॉ और लल्लूलाल थे। खॉ साहब की रचना मे उर्दूपन शब्दो ही तक परिमित न था वाक्य-विन्यास तक फैला हुआ था। उधर लल्लूलाल के 'प्रेम-सागर' को देखने से ज्ञात होता है कि लेखक ने उर्दूपन से बचने की बड़ी चेष्टा की है। आगे चलकर ईसाई धर्म-प्रचारकों ने अपनी रचनाओं मे उर्दूपन का पूर्ण बहिष्कार किया। यहाँ तक कि यदि किसी विचार को व्यक्त करने के लिए उन्हे हिन्दी का कोई प्रचलित शब्द नही मिलता था तो वे उसके लिए उर्दू का शब्द न रखकर हिन्दी का ग्रामीण शब्द रख दिया करते थे। आगे चलकर राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह मे भी हम यही हिन्दी-उर्दू का [illegible] है। राजा शिवप्रसाद की पुस्तकों मे उर्दूपन शब्दो ही तक परिमित न रहकर वाक्यो तक मे प्रविष्ट हो गया है। राजा लक्ष्मणसिंह की रचनाओं ने इनसे ठीक विपरीत मार्ग ग्रहण किया है। उनमे ढूंढ़ने से उर्दू का एक शब्द तक नहीं मिलेगा, फिर वाक्य-विन्यास का तो कहना ही क्या? स० १६११ में जब इस देश मे शिक्षा की व्यवस्था हुई तब उर्दूवालों ने हिन्दी की पढ़ाई का घोर विरोध किया। उनका कहना था कि जब अदालत आदि राज्य के कार्यों मे उर्दू ही प्रयोग

मे आती है तब एक और भाषा को क्यो लिया जाय ? उर्दू की पढाई की ही देश मे क्यो न व्यवस्था की जाय ?

हिन्दी और उर्दू के विरोध का प्रधान कारण यह है कि हिन्दी सस्कृत की ओर झुकती है और उर्दू अरबी-फारसी की ओर। यदि दोनो ही मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण करें तो विरोध मिट सकता है, अन्यथा नही। पर हिन्दी ऐसा नही कर सकती। यदि वह ऐसा करेगी तो उसे बहुत हानि होने की सम्भावना है। हिन्दी के सस्कृत की ओर झुकने के कारण ये हैं—

भारतवर्ष की समस्त आर्य भाषाएँ संस्कृत से दृढ और अटूट सम्बन्ध रखती हैं। वे अपने शब्द-भडार को सस्कृत से भरती रहती हैं। हिन्दी भी अपने शब्द-भडार की वृद्धि के लिए सस्कृत का पल्ला पकड़ती है। यदि ऐसा न करे तो वह अन्य भारतीय आर्य-भाषाओ से दूर हो जायगी। अन्य आर्य भाषा-भाषी उसको न समझ सकेंगे। परिणाम यह होगा कि हिन्दी मे राष्ट्रभाषा होने की उपयुक्तता न रह जायगी।

संस्कृत के शब्दो के प्रयोग से शैली मे प्रौढ़ता और गरिमा आ जाया करती है। उसमे एक विशेष छटा का प्रादुर्भाव हो जाता है। साहित्यिक मनुष्य इस बात को भली भाँति जानते हैं। साधारण मनुष्य भले ही इस कथन की सत्यता मे विश्वास न करे, पर बात ऐसी ही है।

नए भावो और विचारो की अभिव्यक्ति के लिए हिन्दी सस्कृत को अथाह समुद्र के समान पाती है। बिना किसी कठिनाई के वह विचार या भाव के उपयुक्त शब्द उठाकर अपने शरीर मे पचा लेती है। यदि हिन्दी सस्कृत के स्थान पर अन्य किसी भाषा से शब्द माँग ले तो वह वैसी सरलता से उस शब्द को अपने शरीर मे पचा नही सकेगी। यही कारण है कि आज तक जितने विदेशी शब्द हिन्दी ने लिए है उनमे से अधिकाश अपना विदेशी रूप-रग बनाए हुए हैं।

हिन्दी प्रधानतः हिन्दुओ की भाषा है। हिन्दू लोग अपनी प्राचीन

सभ्यता तथा सस्कृति को गौरव-पूर्ण समझते हैं और उन्हे आदर की दृष्टि से देखते है। वे कभी उनसे दूर नही होना चाहते। सस्कृत-ग्रन्थो से हिन्दुओ की प्राचीन सस्कृति और सभ्यता झाँक रही हैं। सस्कृत के निकट रहने से हिन्दी मे वैसा ही प्राचीन सभ्यतामय वातावरण पैदा हो जाया करता है जो सस्कृत में है। इस प्रकार हमारा सम्बन्ध प्राचीन सभ्यता से नही टूटने पाता।

हिन्दी-उर्दू-समस्या सयुक्तप्रान्त के लिए बड़ी भयकर समस्या है। आजकल इस बात का घोर प्रयत्न हो रहा है कि प्रत्येक प्रान्त में वहाँ के निवासियो की मातृभाषा ही शिक्षा और सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यों का माध्यम हो। जैसे बगाल मे बालको को बॅगला में शिक्षा दी जाय और वहाँ की अदालतो, दफ्तरो, सामाजिक कार्यवाहियो आदि मे भी बॅगला का प्रयोग हो। आशा है कि यह प्रयत्न निकट भविष्य मे सफल होगा। तब सयुक्तप्रान्त की क्या दशा होगी? अन्य प्रान्तो की भॉति इस प्रान्त मे एक भाषा तो है नही जिसको शीघ्र सार्वजनिक कार्यो का माध्यम बना लिया जाय। यहाँ तो उर्दू और हिन्दी दो भाषाएँ है। इनमे से किसको चुना जायगा? किस भाषा में नीची से नीची श्रेणी से लेकर ऊँची से ऊँची श्रेणी तक शिक्षा दी जाया करेगी? अध्यापकगण किस भाषा मे व्याख्यान दिया करेंगे? पाठ्य पुस्तके किस भाषा में लिखी जाया करेंगी? अदालतो मे किस भाषा को स्थान दिया जायगा? दफ्तरो की कार्यवाही की भाषा क्या होगी? ये प्रश्न मस्तिष्क में उठते है। यह तो हो नहीं सकता कि यहाँ के हिन्दुओ के लिए पृथक् सस्थाएँ स्थापित की जायँ और मुसलमानो के लिये पृथक्, क्योकि ऐसा करने से यह प्रान्त एक प्रकार से दो भागो मे विभक्त हो जायगा। यहाँ के हिन्दू और मुसलमान एक प्रान्त में रहते हुए भी पारस्परिक व्यवहारों मे विदेशियो के समान हो जायँगे। इसके अतिरिक्त व्यय भी बहुत बढ़ जायगा जिसे सहने के लिए प्रान्त की आर्थिक स्थिति तैयार नहीं।

संभव है दोनों भाषाओं के मिले-जुले रूप हिन्दुस्तानी को प्रान्तीय भाषा बनाया जाय और उसी मे सब कार्य हो, हिन्दी और उर्दू छूट जायँ। यह भी अच्छा नही होगा। कम से कम हिन्दी को छोड़ना तो हिन्दुओ के लिए बहुत बुरा होगा। उनमें हिन्दुत्व अथवा प्राचीन सस्कृति का नाम-निशान नही रह जायगा। तब तो यही अच्छा होगा कि हिन्दी और उर्दू दोनो को ही इस प्रान्त के सार्वजनिक कार्यों का माध्यम बनाया जाय। ऐसा करने में व्यय अवश्य बढ़ जायगा। पर इसका चारा ही क्या है ?

हिन्दी-उर्दू-समस्या प्रान्तीय समस्या ही नही है, उसका एक भारतीय पहलू भी है। राष्ट्रभाषा के लिए प्रायः लोग हिन्दी को अधिक उपयुक्त समझते हैं। पर मुसलमान उसका विरोध करते हैं और कहते है कि उर्दू को क्यो न राष्ट्रभाषा बनाया जाय ? इस प्रकार राष्ट्रभाषा का प्रश्न उलझन में पड़ा हुआ है। साम्प्रदायिकता का भद्दा रग उस पर चढा हुआ है। यद्यपि हिन्दी के राष्ट्रभाषा बनाए जाने से उर्दू को कोई हानि होने की सम्भावना नही है तो भी व्यर्थ उसका विरोध किया जाता है। इसका कारण साम्प्रदायिक डाह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मुसलमान लोग हिन्दी की उन्नति और उसका गौरव नही सह सकते। यही कारण है कि देश मे राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी समस्या उठ खड़ी हुई है।

साराश यह है कि हिन्दी-उर्दू-समस्या का हल कठिन ही नही बल्कि असम्भव सा होता जा रहा है। दिन प्रतिदिन हिन्दी और उर्दू के बीच की खाई अधिक चौड़ी होती जा रही है। ऐसी दशा मे हम तो यही ठीक समझते हैं कि हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में प्रत्येक हिन्दू को हिन्दी अपनानी चाहिए। मुसलमान उर्दू को अपनावे। दोनों ही अपनी अपनी भाषाओं को भरी-पूरी बनावे, उनका विकास करे, उनको उन्नत करे। राष्ट्रीय कार्यों के सचालन के लिए हिन्दी को ग्रहण किया जाय। मुसलमानों को हिन्दी का साधारण ज्ञान प्राप्त करना कठिन

नहीं। उन्हें हिन्दी सीखनी चाहिए। यदि वे ऐसा नहीं करते तो भविष्य आप ही इसका निर्णय कर देगा। एक नई भाषा हिन्दुस्तानी गढ़ कर उसे राष्ट्रीय पद पर आसीन करना हमें नहीं रुचता।

वर्तमान हिन्दी-कविता में बाबू मैथिलीशरण गुप्त का स्थान

रूप-रेखा:—

(१) प्रस्तावना—वर्तमान हिन्दी-कविता के क्षेत्र में गुप्तजी की सर्वोच्चता

(२) वर्तमान काल के कवियों की दो श्रेणियाँ

(३) गुप्तजी का काल-प्रतिनिधित्व—

(क) राष्ट्रीयतानुराग

(ख) अछूतोद्धार की भावना

(ग) हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की अभिरुचि

(घ) स्त्रियों के अधिकारों का पृष्ठपोषण

(ङ) वर्तमान कविता की प्रवृत्तियों का प्रभाव

(४) भाषा

(५) भाव-व्यंजना

(६) प्रकृति-चित्रण

(७) वर्णन-शक्ति

(८) प्रबन्ध काव्य और मुक्तक दोनों पर अधिकार

(९) संवाद और चरित्र-चित्रण

(१०) उपसंहार—गुप्तजी की उपाध्यायजी से तुलना

वर्तमान हिन्दी-कविता के क्षेत्र मे बाबू मैथिलीशरण गुप्त का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन्होने अपनी बहुन्मुखी प्रतिभा के बल से हिन्दी-काव्य-क्षेत्र को जगमगा दिया है, उसके कलेवर को देदीप्यमान रत्नों से अलंकृत किया है। निस्संदेह गुप्तजी वर्तमान काल के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। आजकल के कवियो में उनका स्थान सर्वोच्च है।

वर्तमान काल के कविगण दो श्रेणियो मे विभक्त किए जा सकते हैं—(१) प्राचीन धारा के कवि और (२) नवीन धारा के कवि। प्राचीन धारा के कवियो में अयोध्यासिंह उपाध्याय, सुभद्राकुमारी चौहान, वियोगीहरि आदि प्रमुख है। नवीन धारा के कवियो मे जय-शकर 'प्रसाद', सूर्यकान्त निराला, सुमित्रानदन पत, महादेवी वर्मा आदि विशेष उल्लेखनीय है। मैथिलीशरण गुप्त प्राचीन और नवीन दोनो धाराओ के कवियो के अतर्गत रक्खे जा सकते है, क्योकि उन्होने दोनो प्रकार की रचनाएँ की है। प्राचीन धारा के कवि उन्ही प्राचीन विषयो को लेकर चले है जिनको प्राचीन कवियो ने अपनी कविता का विषय बनाया था। जैसे राम या कृष्ण की भक्ति। उनकी कविता की शैली भी प्राचीन है। नवीन धारा के कवियो ने विदेशी नकल करके अपनी कविता की वेश–भूषा विदेशी बना डाली है। विषय और शैली दोनो ही विदेशी साँचे मे ढाले गए है। पश्चिम के कवियो की भाँति छोटे छोटे साधारण विषयो को लेकर ये कवि प्रगीतात्मक शैली में मुक्तक रचनाएँ कर रहे हैं। हिन्दी–साहित्य मे ये छायावादी कवियो के नाम से प्रसिद्ध हैं। कहना न होगा कि वर्तमान कविता के दोनो क्षेत्रो (प्राचीन और नवीन धाराओ) मे गुप्तजी की कीर्ति–पताका भगवती वीणापाणि के उच्च कर–कमलो में विद्यमान है।

गुप्तजी ही वर्तमान काल के प्रतिनिधि कवि कहे जाने के पूर्ण अधिकारी हैं। अन्य किसी कवि में यह विशेषता नही पाई जाती। गुप्तजी आजकल के समाज की प्रवृत्तियो से पूर्णतः प्रभावित हैं। इनकी रचनाएँ आजकल के समाज का जीता–जागता चित्र खींचती हैं। आजकल राष्ट्रीयता की गूँज समाज मे चारो ओर सुनाई पड़ती है। गुप्तजी की प्रायः सभी रचनाएँ राष्ट्रीय भावों से ओत–प्रोत हैं। उनकी 'भारत–भारती' तो राष्ट्रीयता का ज्वलंत उदाहरण है। वक–संहार, पचवटी, साकेत आदि में भी गुप्तजी ने राष्ट्रीय भावों की अभि–

व्यंजना की है। 'वक-सहार' मे राजा की आलोचना करते हुए गुप्तजी कहते हैं—

राजा प्रजा का पात्र है,
वह एक प्रतिनिधि मात्र है।
यदि वह प्रजा--पालक नहीं तो त्याज्य है।
हम दूसरा राजा चुनें,
जो सब तरह सबकी सुने।
कारण, प्रजा का ही असल में राज्य है।

'पचवटी' मे ये स्वतत्रता का पक्षपात करते हुए कहते हैं—

पर अपना हित आप नहीं क्या
कर सकता है यह नरलोक?

'साकेत' मे तो राम–वनगमन के अवसर पर गुप्तजी आजकल के सत्याग्रह–युद्ध से प्रभावित होकर अयोध्या के निवासियो द्वारा सत्याग्रह कराते है। देखिए—

राजा हमने राम, तुम्ही को है चुना,
करो न तुम यो हाय! लोकमत अनसुना।
जाओ, यदि जा सको रोद हमको यहॉ।
यो कह पथ मे लेट गए बहु जन वहॉ॥

अछूतोद्धार की ओर भी वर्तमान हिन्दू–समाज उन्मुख हुआ है। गुप्तजी अछूतो के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए 'पचवटी' मे लिखते हैं—

इन्हे समाज नीच कहता है,
पर हैं ये भी तो प्राणी।
इनमें भी मन और भाव हैं,
किन्तु नहीं वैसी वाणी॥

हिन्दू–मुस्लिम–ऐक्य की स्थापना के लिए न जाने कितने प्रयत्न

नही हुए होंगे, पर आज तक वह स्थापित नही हो पाया है। 'गुरुकुल' में गुप्तजी प्रार्थना करते हैं—

हिन्दू-मुसलमान दोनो अब,
छोडे वह विग्रह की नीति।

आजकल हिन्दू-समाज स्त्रियों की दीन दशा के सुधार मे प्रयत्नशील है। हमारे यहाँ स्त्रियो की जैसी दुर्दशा है वह किसी मे छिपी नही है। गुप्तजी स्त्रियों के साथ सहानुभूति दिखलाते हुए 'पञ्चवटी' में कहते हैं—

नर कृत शास्त्रों के सब बन्धन
है नारी ही को लेकर,
अपने लिए सभी सुविधाएँ
पहले ही कर बैठे नर!

'यशोधरा' का यह चित्र भी कितना मार्मिक है, देखिये—

अबला-जीवन, हाय! तुम्हारी यही कहानी—
आँचल मे है दूध और आँखो मे पानी!

ग्राम्य सुधार को ओर भी भारतीय समाज अग्रसर हो रहा है। गुप्तजी ने 'अनघ' शीर्षक रचना में इसको स्थान दिया है और मघ को ग्राम्य सुधारक चित्रित किया है। देखिए मघ क्या करते है—

मरम्मत कभी कुओं-घाटो की,
सफाई कभी हाट-बाटो की
आप अपने हाथों करता है।

वर्तमान कविता की प्रवृत्तियो से भी गुप्तजी भली भाँति प्रभावित हैं। यह छायावादी युग है। अतः इन्होंने छायावाद की रचनाएँ की हैं। वे 'झंकार' नामक पुस्तक मे सगृहीत है। आजकल की कविता में शोक और करुणा का समुद्र बेतरह उमड़ा हुआ देखा जाता है। यह प्रवृत्ति भी गुप्तजी के जयद्रथ-बध, भारतभारती, साकेत, यशोधरा आदि काव्य-ग्रन्थों में देखने को मिलती है। गुप्तजी ने अनुवाद भी किए

हैं । बँगला के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदनदत्त की विरहिणी व्रजांगना, वीरागना और मेघनाथवध तथा नवीनचन्द्र सेन की पलासीर युद्ध नामक रचनाओं के बडे सुन्दर अनुवाद इन्होने 'मधुप' उपनाम से किए है । 'पलासीर युद्ध' में गगाजी मे प्रतिबिम्बित अस्ताचल की ओर जाते हुए सूर्य का मूल वर्णन इस प्रकार है—

शोभि छे एकाहि रवि पश्चिम गगने,
भासि छे सहस्र रवि जाह्नवी जीवने ।

गुप्तजी ने इन पक्तियो का अनुवाद यो किया है—

शोभित दिन–मणि एक प्रतीची के अचल में,
सौ-सौ दिन मणि झलक रही है गगा-जल मे ।

पाठक स्वय ही देख ले कि मूल वर्णन अच्छा है अथवा अनुवाद। अनुवाद मे 'अचल' शब्द ने मूल से भी अधिक सौन्दर्य ला दिया है । सस्कृत के विख्यात नाटककार भास के नाटक 'स्वप्न–वासवदत्ता' का भी अनुवाद इन्होने किया है । फारसी के कवि उमर खैयाम् की रुबाइयो को जिनका अनुवाद फिट्जजेराल्ड ने ऍगरेजी में किया था ऍगरेजी से हिन्दी मे लाने की सफलता इन्होने प्राप्त की है । इस प्रकार हम देखते है कि गुप्तजी ने हिन्दी (खड़ी बोली) को मौलिक एव अनुवादित दोनो प्रकार की रचनाओ से अलकृत किया है । प्रकृति के प्रति अनुराग होना भी वर्तमान कविता की प्रवृत्ति है । कहने की आवश्यकता नहीं कि गुप्तजी की प्रायः सभी कविताएँ प्राकृतिक दृश्यो से सुसज्जित हैं। आजकल प्रगीतात्मक शैली को अपनाया जा रहा है । नवीन धारा के तो प्रायः सभी कवि इस शैली में रचना करते है पर धीरे-धीरे प्राचीन धारा के कवि भी इस ओर खिच रहे हैं । गुप्तजी की हाल की रचनाओं में प्रगीतात्मक शैली की ओर झुकाव दृष्टिगत होता है । 'साकेत' और 'यशोधरा' मे इस शैली पर प्रचुर रचनाएँ मिलती है ।

गुप्तजी की कविताओं में जैसी परिष्कृत, सुव्यवस्थित एव सरल भाषा मिलती है वैसी अन्यत्र नही । वास्तव में सफल कविता वही होती

है जिसमें सरल भाषा द्वारा गभीर से गभीर, सूक्ष्म से सूक्ष्म, भाव प्रकट किए गए हो। गुप्तजी मे यह गुण चरमोत्कर्ष को पहुँचा हुआ है। ये सीधी-सादी भाषा मे भावो की अभिव्यजना बडे मार्मिक ढग से करते है। देखिए—

"मेरे उपवन के हरिण, आज बनचारी,
मै बाँध न लूँगी तुम्हे, तजो भयभारी।"
गिर पडे दौड़ सौमित्र प्रिया-पद तल मे,
वह भीग उठी प्रिय-चरण धर दृग-जल मे। (साकेत)

छायावादी कवियो की भाषा बड़ी क्लिष्ट होती है। वे लोग अँगरजी की लाक्षणिक पदावलियो का अनुवाद करके अपनी कविताओ मे रख दिया करते है। जैसे—स्वर्ण-स्वप्न, स्वप्निल आभा, कनक-छाया आदि। भला साधारण पाठक इनका क्या अर्थ लगा सकते है ?

भावो की अभिव्यक्ति मे गुप्तजी कमाल करते है। मानव-हृदय के भिन्न-भिन्न भावो तक इनकी पहुँच है। मनुष्य-जीवन की जितनी अधिक दशाओ का सन्निवेश गुप्तजी ने अपनी रचनाओ मे किया है उतनी का वर्तमान किसी कवि ने नहीं। 'जयद्रथ-वध' मे करुणा और वीरोत्साह का परिपाक, 'पचवटी' मे प्रेम और घृणा का रूप, साकेत मे प्रेम, करुणा, उत्साह, सकोच, ग्लानि, क्रोध आदि भावो की छटा दर्शनीय है। करुणा का चित्रण देखिए—

फिर पीट कर सिर और छाती अश्रु बरसाती हुई,
कुररी-सदृश सकरुण गिरा से दैन्य दरसाती हुई।
बहु विधि विलाप-प्रलाप वह करने लगी उस शोक मे,
निज प्रिय-वियोग समान दुख होता न कोई लोक में॥
(जयद्रथवध)

यहाँ अभिमन्यु की मृत्यु पर उत्तरा की कारुण्य-पूर्ण दशा का कैसा मार्मिक चित्र खीचा गया है ! बीभत्सता की व्यजना देखिए—

जहाँ लाल साड़ी थी तनु में
बना चर्म का चीर वहाँ,
हुए अस्थियो के आभूषण
थे मणि-मुक्ता-हीर जहाँ ।
कन्धों पर के बड़े बाल वे
बने अहो ! आँतो के जाल,
फूलो की भी वरमाला भी
हुई मुण्डमाला सुविशाल । (पञ्चवटी)

यह शूर्पणखा का भद्दा रूप है । लक्ष्मण का क्रोध देखिए—

अरे मातृत्व तू अब भी जताती ,
ठसक किसको है भरत की बताती ।
भरत को मार डालू और तुझको ,
नरक मे न रक्खू ठौर तुझको । (साकेत)

गुप्तजी का प्रकृति-चित्रण वर्तमान कवियो मे प्रायः सबसे श्रेष्ठ होता है । यो तो आजकल के सभी कवि प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन किया करते है पर गुप्तजी के समान सश्लिष्ट योजनात्मक वर्णन जो प्रकृति के किसी दृश्य का चित्र-सा नेत्रो के सम्मुख उपस्थित कर सके किसी कवि का नही पाया जाता । वस्तुओं के नाम गिनाकर प्रकृति के किसी दृश्य का ज्ञान करा देना और बात है, और उस दृश्य के भिन्न-भिन्न अङ्गो की सश्लिष्ट योजना तथा परिस्थिति के योग द्वारा उसका बिम्ब-ग्रहण कराना और बात । बिम्ब-ग्रहण वही कवि करा सकेगा जो अपनी अतरात्मा को प्रकृति मे लीन कर देगा । केवल प्रकृति के बाह्य सौन्दर्य को ही देखकर जो मुग्ध हो जायगा वह प्रकृति का अनुरजनकारी वर्णन भले ही करदे उसका वास्तविक भोलाभाला चित्र नही दिखा सकता । हम कह सकते है कि वर्तमान कवियो मे गुप्तजी और प० रामचन्द्र शुक्ल ये दो ही कवि ऐसे है जिनकी अतरात्मा प्रकृति में पूर्णतः लीन हुई है । गुप्तजी का प्रकृति-चित्रण देखिए—

फैलाए यह एक पक्ष, लीला किए,
छाती पर भर दिये अंग ढीला किये।
देखो ग्रीवाभग-सग किस ढग से,
देख रहा है हमे विहग उमगसे।

× × × ×

आगे आगे भाग रहा है मोर यह,
पक्षों से पथ झाड़, चपल चितचोर यह।
मचक मचक कर कीश मडली खेलती,
लचक लचक बच डाल भाग है खेलती।

प्रकृति के अतिरिक्त गुप्तजी के अन्य वर्णन भी अपूर्व होते हैं। निस्सदेह वाह्य दृश्य-वर्णनो मे गुप्तजी ने सिद्धहस्तता दिखलाई है। 'साकेत' के प्रथम सर्ग म लक्ष्मण और उर्मिला की विदाई का दृश्य बहुत सुन्दर है। देखिए—

चूमता था भूमितल को अर्द्ध-विधु सा भाल;
बिछ रहे थे प्रेम के दृग जाल बन कर बाल।
छत्र सा ऊपर उठा था प्राणपति का हाथ,
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ॥

'साकेत' मे राम की एक मुद्रा का भी अच्छा चित्र है, देखिए—

तरु-तले विराजे हुए, शिला के ऊपर,
कुछ टिके, धनुष की कोटि टेक कर भूपर,

'पचवटी' मे शूर्पणखा के रूप का वर्णन तो हिन्दी-साहित्य का अमूल्य रत्न है, देखिए—

चकाचौध-सी लगी देखकर
प्रखर ज्योति की वह ज्वाला,
निस्सङ्कोच खड़ी थी सम्मुख
एक हास्य वदनी बाला।
रत्नाभरण भरे अङ्गो में

ऐसे सुन्दर लगते थे —
ज्यो प्रफुल्ल वल्ली पर सौ सौ,
जुगुनू जगमग जगते थे ।

गुप्तजी ने प्रबन्ध और मुक्तक दोनो प्रकार के काव्य लिखे है। अधिकता प्रबन्ध काव्यो की ही है। कहने की आश्यकता नही कि काव्य के इन दोनो क्षेत्रो मे इन्हे समान सफलता मिली है। आजकल के कवियो मे प्रबन्ध-काव्य की रचना करने वाले इने गिने है। प्रायः सभी मुक्तक की धारा मे प्रवाहित हो रहे है। आजकल प्रबन्ध-क्षेत्र मे गुप्तजी और अयोध्यासिंहजी उपाध्याय ही विशेष प्रसिद्ध हैं। पर गुप्तजी की सी प्रबन्ध–पटुता उपाध्यायजी मे नही है। उनके 'प्रियप्रवास' मे कथा की बार-बार आवृत्ति हुई है और उसकी धारा रुकी हुई सी प्रतीत होती है। गुप्तजी के 'साकेत' मे कही भी ऐसा नही हुआ है। उसमे प्रबन्ध-धारा स्वच्छन्दता से आगे बढती चली जाती है।

प्रबन्धकार कवि पात्रो के सवाद और चरित्र–चित्रण की योजना भी करता हैं। गुप्तजी के सवाद और चरित्र–चित्रण सफल हुए हैं। हॉ, कही-कही मर्यादा का उल्लघन अवश्य खटकता है। सवाद की दृष्टि से तो कुछ लोग गुप्तजी को केशवदासजी के पश्चात् ही स्थान देते है। कुछ भी हो। इतना अवश्य है कि इनके सवाद बडे सजीव, स्वाभाविक और फडफडाते हुए होते हैं। 'पचवटी' का शूर्पणखा–लक्ष्मण–संवाद और 'साकेत' का उर्मिला–लक्ष्मण–सवाद दोनो ऐसे ही है।

चरित्र–चित्रण मे गुप्तजी को पर्याप्त सफलता मिली है। 'पञ्चवटी' में लक्ष्मण का चरित्र बडे अच्छे ढग से चित्रित हुआ है। 'साकेत' मे उर्मिला, भरत, कैकेयी आदि का और 'यशोधरा' मे यशोधरा का चरित्र उद्घाटित करके कवि ने अपनी तद्विषयक पटुता का प्रचुर परिचय दिया है। हॉ, एक बात इनके चरित्रो मे खटकती है। इन्होंने लक्ष्मण, राम, सीता प्रभृति पात्रो को आधुनिकता के सॉचे मे ढाल दिया है।

इस प्रकार हम देखते है कि गुप्तजी ने अपनी बहुन्मुखी प्रतिभा से वर्तमान हिन्दी-कविता को सम्पन्न बनाने का खूब प्रयत्न किया है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है आजकल गुप्तजी की समानता कोई हिन्दी-कवि नहीं कर सकता। प्रायः लोग उपाध्यायजी को इनकी तुलना के लिए रक्खा करते हैं। इस विषय में हमें सबसे पहले तो यह कहना है कि जिस प्रकार गुप्तजी की कवित्व-शक्ति का क्रमिक विकास देखा गया है वैसा उपाध्यायजी की कवित्व-शक्ति का नहीं। उनकी कवित्व-शक्ति का जो रूप हमें 'प्रिय प्रवास' में देखने को मिला वह पीछे के काव्यो मे नही। पीछे के काव्यों मे तो उनकी कवित्व-शक्ति का ह्रास होता गया है। ठीक विपरीत दशा गुप्तजी के काव्यों की है। इसके अतिरिक्त यद्यपि उपाध्यायजी में गुप्तजी की अपेक्षा भावुकता अधिक है और उनका ब्रज-भाषा तथा खड़ी बोली दोनों पर समान अधिकार है तो भी गुप्तजी की सी सुव्यवस्थित एवं परिष्कृत भाषा, वर्णन-शक्ति, प्रकृति-चित्रण, प्रबन्ध-पटुता, संवाद और सबसे बड़ी विशेषता—समय का प्रतिनिधित्व—का उनमें अभाव है। अतः गुप्तजी के सामने उपाध्यायजी नहीं ठहर सकते। गुप्तजी का पलड़ा उपाध्यायजी के पलड़े से भारी है, इसमे संदेह नहीं।

शरीर और मस्तिष्क का नियंत्रण

प-रेखा :—

(१) प्रस्तावना—शरीर और मस्तिष्क के नियत्रण की आवश्यकता
(२) भारत मे अधिकांश मनुष्यो का असंयमी होना
(३) शरीर के असंयमित रहने से अनर्थ
(४ शरीर के लिए व्यायाम की उपयोगिता
(५) मस्तिष्क के नियंत्रण के लिए शिक्षा का महत्व
(६) स्वाध्याय की आवश्यकता
(७) मनन-शीलता से मस्तिष्क का नियंत्रण
(८) शरीर और मस्तिष्क के नियत्रण से आत्मिक-नियंत्रण की प्राप्ति
(९) उपसंहार—शरीर और मस्तिष्क के नियत्रण से जीवन की सार्थकता

मनुष्य-शरीर को गोस्वामी तुलसीदासजी ने अत्यन्त महत्व दिया। वे इसकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन और इसको मोक्ष का साधन समझते, जैसा कि उनके 'रामचरितमानस' की इन पक्तियो से प्रकट है—

बड़े भाग्य मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सदग्रन्थन गावा ॥
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जे परलोक सँवारा ॥
सो परत्र दुख पावई, सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईश्वरहि, मिथ्या दोष लगाइ ॥

निस्सदेह यदि मानव-शरीर पाकर जीव सयम से रहे, शरीर और

मस्तिष्क को नियन्त्रित रक्खे तो वह उत्तरोत्तर उच्चता की ओर अग्रसर होता हुआ अन्त मे परमपद का अधिकारी हो सकता है। मस्तिष्क और शरीर के नियन्त्रण से सासारिक जीवन को आनन्दमय बनाया जा सकता है। समाज की सेवा के लिए, समाज के सुधार के लिए, देश की उन्नति के लिए, मस्तिष्क का विकास आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य है। बिना नियन्त्रण के मस्तिष्क विकसित नहीं हो सकता। मस्तिष्क और शरीर में घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'Sound mind in a sound body' के अनुसार शरीर के स्वस्थ रहने से ही मस्तिष्क ठीक रहता है। अतः मस्तिष्क और शरीर दोनो का नियन्त्रण परमावश्यक है।

पर खेद है कि बहुत कम मनुष्य यह समझते हैं कि शरीर का सयम भी कोई आवश्यक वस्तु है। यद्यपि हमारे पूर्वजो ने "धर्म्मार्थ-काम-मोक्षाणा शरीर साधन परम्" कह कर शरीर की महत्ता स्वीकार की है तथापि हम स्वास्थ्य-रक्षा को अपना कर्तव्य नहीं समझते। कभी हम ५ बजे प्रातःकाल सोकर उठते है तो कभी ७ बजे। कभी हम १० बजे भोजन करते हैं तो कभी १२ बजे। कभी हम सायकाल ५ बजे शौच को जाते है तो कभी ८ बजे। कभी हम रात को ६ बजे सो जाते हैं और कभी १२ बजे। इस प्रकार हमारा जीवन अनियमित है। इससे शरीर की स्वास्थ्य-रक्षा नहीं हो सकती। शरीर मे तरह-तरह के रोग हो जाते हैं, जिन्हे हम आकस्मिक आपत्तियाँ समझते हैं, अपने किए के फल नही समझते। जो लोग नियन्त्रित जीवन व्यतीत करते हैं, खान-पान, आहार-विहार आदि में सयम रखते हैं, उनका शरीर नीरोग रहता है। भारतीय मनुष्य प्रायः नियम-विरुद्ध जीवन व्यतीत करते हैं और अँगरेज नियमित। यही कारण है कि भारतीय दुर्बल तथा रुग्ण होते हैं और अँगरेज बलवान एवं फुर्तीले।

हमें चाहिए कि अपने शरीर की रक्षा का सदैव ध्यान रक्खें, क्योंकि जब तक शरीर स्वस्थ रहता हैं तभी तक मनुष्य सुचारु रूप से कार्य

कर सकता है। इसके अतिरिक्त शारीरिक व्यतिक्रम का दुष्परिणाम परिवार के लोगो को भी भोगना पड़ता है। माता-पिता के रोग संतान में भी पहुँच जाते हैं। जो माता या पिता तपैदिक से पीड़ित होता है उसकी सतान भी तपैदिक से पीड़ित होगी। यद्यपि कुछ रोग नग्न रूप मे सतान मे नही प्रगट होते तो भी सतान उनके कुप्रभाव से वचित नही रह सकती। वस्तुतः स्वास्थ्य के नियमों का उल्लंघन पाप है। स्वास्थ्य के नियमो को कुचल कर मनुष्य अपना, अपने परिवार का, और समाज का अनर्थ करता हैं। जब शरीर अस्वस्थ रहता है तब चित्त भी ठिकाने नही रहता। प्रौढ़ बुद्धि और गभीर चितन के लिए पुष्ट शरीर की आवश्यकता होती है। जैसे मशीन तभी ठीक ढग से काम करती है जब उसके पुरजो में कोई खराबी नही होती। उसी प्रकार मस्तिष्क तभी ठीक कार्य करता है जब शरीर में कोई दोष नही होता।

जहाँ शरीर की रक्षा के लिए सयम से रहना उचित है वहाँ व्यायाम की भी कम महत्ता नही। यों तो शरीर को ठीक रखने के लिए शुद्ध वायु, ऋतु के अनुकूल वस्त्र, आहार, विश्राम, नीद, स्वच्छता आदि अनेक बातो का भी ध्यान रखना होगा, पर व्यायाम इन सब से विशेष आवश्यक है। व्यायाम द्वारा हम अपने शरीर की शक्ति को केवल सुरक्षित ही नही रख सकते वरन् बढा भी सकते हैं। व्यायाम से हमारा जीवन सुखमय हो सकता है क्योंकि उससे पाचन-कार्य ठीक-ठीक होता है और पाचन-कार्य की सुचारुता से शरीर स्फूर्तियुक्त और चित्त प्रसन्न रहता है। व्यायाम का अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप हो सकता है। किसी को पर्यटन रुचेगा तो किसी को गेद खेलना। किसी को जल मे तैरना अच्छा लगेगा तो किसी को घोड़े की सवारी। किसी को पेड़ो मे पानी देना प्रिय होगा तो किसी को उछलना-कूदना। किसी को दौड़ना अच्छा लगेगा तो किसी को दड-बैठक। व्यायाम के सम्बन्ध में यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि वह शक्ति से अधिक न की जाय। वृद्ध मनुष्यो के लिए दौड़ना अच्छा

व्यायाम नहीं, क्योंकि उसके लिए अधिक शारीरिक शक्ति की आवश्यकता होती है। उनके लिए तो पर्यटन ही अच्छा व्यायाम रहेगा।

अब मस्तिष्क के नियन्त्रण को लीजिए। मस्तिष्क के नियन्त्रण के लिए शिक्षा अत्यन्तावश्यक है। जिस प्रकार भोजन और व्यायाम से शरीर पुष्ट होता है उसी प्रकार शिक्षा से मस्तिष्क पुष्ट होता है। शिक्षा धीरे-धीरे मस्तिष्क का विकास करती है। उसका उद्देश्य मस्तिष्क को विभिन्न विषयों का ज्ञान कराना नहीं जैसा कि कुछ लोग समझते हैं। किसी लेखक का यह कथन—The aim of education is not to inform but to form the mind अर्थात् शिक्षा का उद्देश्य मस्तिष्क को बहुत सी बातों का ज्ञान कराना नहीं बल्कि उसे एक प्रदान रूप करना है—अक्षरशः ठीक है। सचमुच शिक्षा मस्तिष्क को बनाती है, उसको रूप देती है। यह वह साँचा है जिसमें मस्तिष्क रूपी सोने का सिक्का ढलता है। अशिक्षित लोगों का मस्तिष्क अविकसित रहता है। वे न किसी बात को ठीक तरह से समझ सकते हैं और न उसे सोच ही सकते है। प्रौढ बुद्धि और सूक्ष्म चितन का उनमे सदैव अभाव पाया जाता है। यही कारण है कि वे पुरानी लीक पर चलना पसद करते हैं और सुधार कभी नहीं चाहते। सामाजिक कुरीतियाँ तथा रूढियाँ जो अशिक्षितों मे पाई जाती हैं वे शिक्षितो मे देखने को नही मिलती। मस्तिष्क रूपी पौधे को पुष्पित एव फलित करने के लिए शिक्षा रूपी खाद अनिवार्य है। जोन टॉड नामक एक अँगरेज विद्वान् मस्तिष्क के लिए शिक्षा की आवश्यकता स्वीकार करता हुआ कहता है—The first and great object of education is, to discipline the mind. It is naturally, like the colt, wild and ungoverned. अर्थात् शिक्षा का प्रथम और महत्वपूर्ण उद्देश्य मस्तिष्क का नियन्त्रण है। स्वभावतः वह बछेड़े के समान असभ्य और उच्छृङ्खल होता है।

मस्तिष्क के विकास लिए शिक्षा के अतिरिक्त स्वाध्याय भी एक

प्रधान साधन है। जो मनुष्य अध्ययन नही करता है उसे भूतकाल के ज्ञान–भडार का कुछ भी पता नहीं रहता। वह पीढियो के सचित ज्ञान से वचित रह जाता है। वह जो कुछ सोचता है, विचारता है, परीक्षा करता है, वह अपनी ही छोटी सी पहुँच और अपने ही थोडे से साधनो के आधार पर करता है। भूतकालीन ज्ञान उसकी कुछ भी सहायता नही करता, उसके मस्तिष्क का विकास नहीं करता। स्वाध्याय से मनुष्य के मस्तिष्क का परिष्कार भी होता है। गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' को पढकर किसका चित्त शुद्ध नहीं होता? भर्तृहरि के नीति–शतक और वैराग्य–शतक का अध्ययन करके कौन अपने को ऊँचा नही उठा सकता? अधे सूरदास की पीयूषवाणी किसके मन के मैल को नही धोती? मानसिक सस्कार के लिए पुस्तकों का अवलोकन बहुत ही उपयुक्त औषधि है। जो कार्य सहस्रो उपदेशक करने मे असफल होते हैं वह नीति के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने वाली एक काव्य–पुस्तक कर सकती है। रामचद्रजी के मुख से ये वचन—

धन्य जन्म जगतीतल तासू। पितहिं प्रमोद चरित सुनि जासू॥
चारि पदारथ करतल ताके। प्रिय पितु मातु प्राण सम जाके॥
आयसु पाइ जन्मफल पाई। ऐहौं वेगहि होइ रजाई।
विदा मातुसन आवौं माँगी। चलिहौं बनिहि बहुरि पद लागी॥

सुनकर किसके हृदय मे पितृभक्ति नही जाग्रत होगी? शून्य मस्तिष्क मनुष्य को विकारो की ओर उन्मुख करता है। कहा भी है—An idle mind is a devil's work-shop. अत 'मानसिक पतन से बचने के लिए भी पुस्तको का अध्ययन करना अच्छा व्यवसाय है। इससे चित्त भी बहल जाता है और लाभ भी पहुँचता है।

मनन करने से भी मस्तिष्क की रक्षा होती है, मस्तिष्क का नियत्रण होता है। वास्तव मे मनन मस्तिष्क का व्यायाम है। जो मनुष्य जितना अधिक मननशील होगा उसका मस्तिष्क उतना ही प्रौढ एव सस्कृत होगा। मन की एकाग्रता बिना मनन नहीं हो सकता। चित्त

की एकाग्रता से आत्म-सुधार होता है और मनुष्य मे किसी बात की तह तक पहुँचने की शक्ति आती है। पूर्वजो ने चित्त की एकाग्रता को स्वर्ग का सोपान बतलाया है। निस्सदेह मननशील व्यक्ति किसी कार्य की अच्छाई और बुराई बिना सोचे हुए कभी उसको करने के लिए तैयार नही होगा। वह कभी किसी प्रलोभन मे नही फँसेगा। उसका मस्तिष्क सदैव जीवन के सार की खोज मे रहेगा। इस प्रकार वह धीरे-धीरे अपने को उच्चता की ओर अग्रसर करता हुआ उसे शान्ति के समुद्र मे निमग्न कर देगा।

शरीर और मस्तिष्क के नियत्रण से मनुष्य आत्मा के नियत्रण की ओर अग्रसर होता है। जिस मनुष्य का शरीर स्वस्थ और नियमबद्ध होगा, जिस मनुष्य का मस्तिष्क परिष्कृत तथा विकसित होगा, वह अपनी आत्मा को पवित्र कर सकेगा और अपनी वासनाओ पर विजय पा सकेगा। आत्मोद्धार रूपी भवन मे प्रविष्ट होने के लिए शरीर और मस्तिष्क के नियत्रण दो सोपान हैं।

कहने का निष्कर्ष यही है कि जीवन की सार्थकता शरीर और मस्तिष्क के नियत्रण मे है। नियत्रण वह अग्नि है जिसमे मनुष्य शुद्ध होकर स्वर्ण की भाँति देदीप्यमान हो जाता है।

आख्यायिका (कहानी)—लेखन

रूप-रेखा:—

(१) प्रस्तावना—गद्य-क्षेत्र में आख्यायिका का महत्व
(२) लक्षण और क्षेत्र
(३) आरम्भ की विधि
(४) वस्तु का स्वाभाविक, मनोरंजक और सरल होना
(५) वस्तु का प्रवाहयुक्त होना
(६) वस्तु-रचना में सांकेतिकता की आवश्यकता
(७) अंत की विधि
(८) आख्यायिका का हृदय की चुटकी लेनेवाली होना
(९) आख्यायिका मे पात्रों का गौण स्थान होना
(१०) कथोपकथन से आख्यायिका में सौन्दर्य-वृद्धि
(११) दृश्य-विधान
(१२) आख्यायिका और शिक्षा
(१३) आख्यायिका के भेद और प्रणालियाँ
(१४) उपसंहार—आख्यायिका का भविष्य

इधर कुछ दिनो से गद्य के क्षेत्र मे आख्यायिका का प्रवेश हुआ है। जिस प्रकार गद्य-साहित्य के नाटक, उपन्यास और निबन्ध अङ्ग माने जाते हैं उसी प्रकार अब आख्यायिका भी उसका एक अङ्ग माना जाने लगा है। पिछले कुछ वर्षों से गद्य-साहित्य के इस अङ्ग ने आशातीत उन्नति की है। मासिक पत्रो में जैसी इसकी धूम रहती है

वैसी साहित्य के किसी और अङ्ग की नही। यहाँ तक कि इसके बढते हुए प्रचार ने उपन्यास तक के स्थान को हड़पने का दावा किया है। कुछ लोगो की यह धारणा हो चली है कि निकट भविष्य मे आख्यायिका उपन्यास का स्थान ले लेगी और उपन्यास काल के अधकार मे विलीन हो जायगा। हम यह तो नही कह सकते कि भविष्य के गर्भ मे क्या है, भविष्य मे क्या होगा, पर, यह देखते हुए कि आख्यायिका के छोटे से क्षेत्र मे जीवन की गम्भीर समस्याओ का विवेचन नहीं हो सकता, ऐसा प्रतीत होता है कि आख्यायिका उपन्यास का स्थान नही ग्रहण कर सकती। दोनो ही अपने अपने क्षेत्र मे कार्य करते रहेंगे। यदि आख्यायिका मनोरजन करती रहेगी तो उपन्यास जीवन की समस्याओ को सुलझाया करेगा।

आख्यायिका एक छोटा सा गद्य-कथानक होता है जो एक बैठक मे पढकर समाप्त हो सके। विषय की दृष्टि से इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। किसी भी विषय पर आख्यायिका लिखी जा सकती है। समाज की कमजोरियो के प्रदर्शनार्थ भी आख्यायिका लिखी जा सकती है, ऐतिहासिक तथ्य पर प्रकाश डालने को भी आख्यायिका की रचना की जा सकती है, मनोविज्ञान-सम्बन्धी भी आख्यायिका हो सकती है और मनोरजनार्थ किसी घटना के वर्णन-स्वरूप भी कहानी रची जा सकती है। निस्सदेह आख्यायिका का प्रधान उद्देश्य मनोरजन है। पर इस कार्य का सम्पादन करते हुए भी वह जीवन के किसी अग पर, जीवन की किसी दशा पर, प्रकाश डाल सकती है।

आख्यायिका की रचना के सिद्धान्त अभी पूर्ण रूप से निर्धारित नही हो सके है। इसका कारण यह है कि यह एक नई चीज है और अभी इसका सुचारु रूप से विवेचन नही हो सका है। फिर भी विद्वानों ने साहित्य के इस अङ्ग की कतिपय विशेषताओं का उद्घाटन किया है।

सबसे पहली विशेषता का सम्बन्ध आख्यायिका के आरंभ करने की विधि से है। वस्तुतः आख्यायिका के आरम्भ पर ही उसकी सफ-

लता का भार रहता है। यदि आरभ अच्छा न हुआ तो वह पाठक के ध्यान को आकर्षित नहीं कर सकती। अतएव उसके आरभ मे लेखक को विशेष सावधान रहना चाहिए। उसमे यदि कुछ परिस्थिति-परिचायक या समा बाँधने वाली बाते रहे अथवा किसी आकस्मिक घटना का सूत्रपात कर दिया जाय अथवा दो पात्रो का वार्तालाप दिखाया जाय तो निस्सदेह पाठक अवश्य उसको पढ़ने के लिए उत्सुक होगा।

आख्यायिका की वस्तु स्वाभाविक, मनोरंजक एव सरल हो। वस्तु की जटिलता से उसका सारा आनन्द किरकिरा हो जाता है। आख्यायिका का ध्येय किसी एक भावना को जाग्रत कर देना है। इसकी साधना के लिए लेखक को जीवन का एक ऐसा दृश्य लेकर चलना चाहिए जिसका आख्यायिका के सकुचित क्षेत्र मे भली भाति निर्वाह हो सके। आख्यायिका के समाप्त कर देने पर पाठक यह अनुभव न करे कि वह अधूरी रह गई या उसका अनावश्यक विस्तार कर दिया गया। ये दोनो ही बाते उसके लिए जीवन-घातक है। यदि वस्तु अधूरी रह जायगी, उसका पूर्ण रूप से प्रतिपादन न होगा, तो पाठक का मन सतुष्ट न होगा, उसे आनन्द न आएगा। यदि वस्तु का अनावश्यक विस्तार होगा तो पाठक की आकाक्षा अत तक नही बनी रह सकेगी। उसे वस्तु का बढाया हुआ अनावश्यक अग भार-स्वरूप प्रतीत होगा और उसके मनोरजन का स्थान अरुचि ले लेगी।

वस्तु की गति या प्रवाह की ओर लेखक को विशेष सजग रहना चाहिए। वह रुकती-चलती निर्झरी न हो बल्कि स्वच्छन्द विहारिणी पटपर पर प्रवाहित होने वाली तरगिनी हो। उसकी घटनाएँ एक दूसरी से नथी रहे। वस्तु रूपी माला मे महत्वानुसार उनका स्थान हो। परन्तु जहाँ तक हो सके घटनाएँ थोड़ी हो, क्योकि अनेक घटनाओ के समावेश से वस्तु मे बहुमुखता एव जटिलता आ जाती है। वस्तु मे कही भी शिथिलता न आने पावे। इसकी साधना के लिए उसको

निरर्थक वाक्यो तथा प्रसगो से बचाते जाना चाहिए। वस्तु-प्रतिपादन ऐसा न हो कि उसका अतिम परिणाम पाठक अनुमान कर सके।

वस्तु की रचना मे साकेतिकता को पर्याप्त स्थान मिलना चाहिए। साकेतिकता से उसमे कौतूहल और उत्सुकता आ जाती है। ये दोनो आख्यायिका के प्राण-रक्षक हैं। उदाहरण के लिए—कोई लेखक किसी युद्ध-घटना का वर्णन कर रहा है। वर्णन करते-करते वह लिखता है—"इसी समय गोली चली।' यह बात पाठक के मस्तिष्क मे कौतूहल का सचार करती है। वह जानना चाहता है कि गोली किसने चलाई, क्यो चलाई, उसमे किसी की मृत्यु हुई या नही इत्यादि। यदि लेखक इन प्रश्नो का उत्तर अत तक न दे तो पाठक की जिज्ञासा अत तक बनी रहती है। पाठक आख्यायिका को अन्त तक पढता हुआ चला जाता है। इस प्रकार के सकेत उसको कहानी की चरमसीमा (climax) पर पहुँचा देते हैं। यह वह स्थान है जहाँ पाठक की उत्सुकता की हद हो जाती है। इस स्थान पर पहुँचने के लिए कहानी की गति मे तीव्रता बढती ही जानी चाहिए और जब कहानी वहाँ पहुँच जाय तो पाठक के सामने कहानी का सारा रहस्य खुल जाय।

कहानी को कुछ लोग चरम सीमा पर पहुँचा कर उसका अन्त कर देते है। यह आवश्यक तो नहीं है कि सर्वदा चरम सीमा पर ही कहानी समाप्त की जाय, पर इस प्रकार की समाप्ति हृदय पर विशेष प्रभाव डालती है। अतः यह अच्छी समझी जाती है। कभी कभी चरमसीमा पर पहुँचकर कहानी का अन्त हो जाने पर भी कुछ बाते उपसहार रूप मे लिखने की आवश्यकता होती है। कहानी कई प्रकार से समाप्त की जाती है। कोई लेखक कहानी के अन्तिम भाग की कुछ बातो को पाठक के विचारने के लिए छोड़कर वस्तु का अधूरे ढग से अन्त कर देते हैं। बंगाल के सुप्रसिद्ध उपन्यास-लेखक शरतबाबू की रचनाओ में यही विशेषता पाई जाती है। कोई लेखक प्रत्येक प्रसग का अतिम परिणाम दिखाकर ही समाप्ति करते हैं। प्रेमचन्दजी की कहानियो मे

महत्व की दृष्टि से आख्यायिका मे वस्तु के पश्चात पात्रों का स्थान है जैसा कि एक अँगरेज समीक्षक का कथन है—"In good stories plot comes first and character second." (अच्छी कहानियों मे प्रथम स्थान वस्तु का और द्वितीय पात्र का होता है)। प्रत्येक कहानी मे कुछ-न-कुछ पात्र रहते ही है। घटनाओं और पात्रो का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। पात्रो के चरित्र के आधार पर घटनाओं की उत्पत्ति एव विकास होता है। अतएव चरित्र-चित्रण सफल कहानी का एक आवश्यक अग है। परन्तु यह जान लेना आवश्यक है कि कहानी के सकुचित क्षेत्र मे चरित्र का समुचित विकास नही दिखलाया जा सकता। लेखक घटनाओं से सम्बन्धित पात्रों की विशेषताओं का आभास मात्र देता हुआ आगे बढता है। उसका प्रधान विषय वस्तु-रचना होता है। उसी मे वह अपना कौशल दिखाने का प्रयास करता है।

आख्यायिका मे कथोपकथन भी सौन्दर्य की वृद्धि करता है। पात्रो के चरित्र पर प्रकाश डालने और वस्तु के विकास मे सहायता प्रदान करने के लिए आख्यायिका मे इसका उपयोग होता है। इसकी रोचकता, सजीवता और अकृत्रिमता से कहानी अधिक सुन्दर हो जाती है।

सफल आख्यायिका मे कुछ प्राकृतिक दृश्यो की भी उद्भावना की जाती है। जैसे—प्रातःकाल, उपवन, नदी-तट, चाँदनी रात्रि, वसन्त आदि। ये दृश्य घटना अथवा चरित्र-चित्रण के लिए वातावरण (back ground) का कार्य देते हैं। उपयुक्त वातावरण मे किसी घटना का सूत्रपात करना अथवा पात्र का चित्र अकित करना कहानी को अधिक आकर्षक बनाता है। उदाहरण के लिए—रानी खेती को हरी-भरी करते हुए मेघ, शीतल और सुगधित पवन, शरद ऋतु मे ठड को दूर करते हुए सूर्य—इन दृश्यो के साथ यदि किसी पात्र द्वारा एक दीन-हीन असहाय दुखिया का उपकार दिखाया जाय तो वह पाठक के हृदय को अधिक प्रभावित करेगा।

यद्यपि आख्यायिका का लक्ष्य मनोरंजन है तथापि वह गौण रूप से छिपे हुए तौर पर कुछ शिक्षा भी देती है। साहित्य और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रत्येक साहित्य के अग मे, चाहे वह उपन्यास हो चाहे आख्यायिका, चाहे वह कविता हो चाहे नाटक, जीवन के किसी-न-किसी अग पर प्रकाश डाला जाता है। तब यह कब सभव है कि साहित्यकार जीवन के जिस अग का विवेचन करे उसके विषय मे अपनी आलोचना न दे? कुछ लोगो को ऐसा करना भले ही अखरे, पर यह स्वाभाविक है, साहित्यकार इस विषय मे विवश है।

आजकल प्रायः दो प्रकार की आख्यायिकाएँ देखने को मिलती हैं—(१) घटनात्मक (२) भावात्मक। घटनात्मक आख्यायिका में घटनाओं की प्रधानता रहती है, मानव-हृदय के विश्लेषण का बहुत कम स्थान रहता है। इस प्रकार की कहानियो मे स्वर्गीय गुलेरीजी की कहानी 'उसने कहा था' और प्रेमचन्दजी की कहानियाँ रक्खी जा सकती हैं। दूसरी तरह की आख्यायिकाओ मे भावो की प्रधानता रहती है, घटनाएँ भावो से दबी रहती है। स्वर्गीय प्रसादजी की 'आकाश दीप' शीर्षक कहानी इसी कोटि की है। घटनात्मक और भावात्मक दोनो ही प्रकार की कहानियाँ अच्छी होती हैं। यह अवश्य है कि पहली प्रकार की रचना दूसरी प्रकार की रचना से अपेक्षाकृत कुछ सरल होती है।

आख्यायिका-लेखन मे लेखक कई प्रकार की प्रणालियों का प्रयोग करते है। कोई लेखक दर्शक की भाँति कहानी लिखता है, कोई स्वय कहानी के नायक का स्थान ग्रहण कर लेता है, कोई पत्रो द्वारा वस्तु-रचना करता है, कोई कथोपकथन द्वारा कहानी का स्वरूप उपस्थित करता है और कोई अपने किसी पात्र की डायरी के उद्धरणो से वस्तु-सामग्री जुटाता है। पहली को ऐतिहासिक प्रणाली, दूसरी को आत्म-चरित्र-प्रणाली, तीसरी को पत्र-प्रणाली, चौथी को कथोपकथन प्रणाली और पाँचवी को डायरी-प्रणाली कहते हैं। सबसे अधिक पहले और दूसरे प्रकार की कहानियो का प्रचार है।

सचमुच आख्यायिका का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है। दिन प्रतिदिन इस क्षेत्र मे उन्नति होती जा रही है। आजकल मनुष्य का कार्य-क्षेत्र जटिल होने के कारण उसे गद्य के विस्तृत अगो–नाटक और उपन्यास–का अध्ययन करने का अवकाश नहीं रह गया है। ऐसी दशा मे आख्यायिका ही उसका मनोरजन करती है और समाज के विकृत रूप को उसके सम्मुख रखकर उसमे सुधार की योजना कराती है।

भारत को राष्ट्रभाषा की आवश्यकता और उसका रूप

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—राष्ट्रभाषा की आवश्यकता

(२) राष्ट्रभाषा का लक्षण

(३) राष्ट्र-भाषा की विशेषताएँ—

(क) बोलनेवालों की संख्या का आधिक्य

(ख) सरलता

(ग) प्राचीनता का गौरव

(घ) देश की सभ्यता और संस्कृति से सम्बन्ध

(ङ) लिपि की सरलता और वैज्ञानिकता

(४) हिन्दी भाषा मे इन विशेषताओं का होना

(५) साम्प्रदायिकता के कारण हिन्दी के राष्ट्र-भाषा होने में कठिनाइयाँ

(६) उपसंहार—राष्ट्र के कल्याण के लिए साम्प्रदायिकता के त्याग की आवश्यकता

भारतवर्ष सरीखे वृहत् देश में राष्ट्रभाषा का अभाव अत्यन्त शोचनीय और हानिकार है। कहने की आवश्यकता नहीं कि देश के निवासी इस अभाव का दुरनुभव करते हुए भी उसकी पूर्ति करने के प्रयत्न नहीं करते। देश मे एक राष्ट्रभाषा के न होने के कारण हमे न जाने कितनी हानियाँ हुई हैं। आजकल भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे भिन्न-भिन्न भाषाएँ प्रचलित हैं। इससे प्रान्तों के पारस्परिक ससर्ग में बहुत अधिक बाधा पड़ती है। एक प्रान्त का निवासी दूसरे प्रान्त के निवासी के साथ विचार-

विनिमय नही कर सकता। केवल विचार-विनियम मे ही बाधा नही पड़ती, वरन् एक प्रान्त दूसरे पान्त की कार्यवाहियों से भी अनभिज्ञ रहता है। निस्सन्देह कतिपय अँगरेजी भाषा-भाषी दूसरे प्रान्तो के ससर्ग मे रहते है और वहाँ के निवासियो से अभिज्ञ रहते है, परन्तु अधिकाश निवासियो की अनभिज्ञता का दुष्परिणाम यह होता है कि एक प्रान्त के निवासियो के हृदय मे दूसरे प्रान्त के निवासियो के प्रति कोई सहानुभूति नही रह जाती और उनका पारस्परिक व्यवहार विदेशियों का सा होता है। खेद का विषय है कि विभिन्न प्रान्तो को सम्बन्ध-सूत्र मे पिरोने वाली एक राष्ट्रभाषा के अभाव ने हमारे देश मे पारस्परिक ससर्ग एवं सम्बन्ध पर कुठाराघात किया है। इससे हमारे लिए राष्ट्र-निर्माण कठिन ही नही वरन् असम्भव हो गया है। अस्तु, अब हमको एक राष्ट्र भाषा बना कर देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तो को राष्ट्रीयता के दृढ बन्धन से जकड़ देना चाहिये जिससे भारतवर्ष भी अन्य देशो के समान अपनी उन्नति का मार्ग प्रशस्त करे। हमे भली भाँति ज्ञात है कि विचार-ऐक्य, उद्देश्य-ऐक्य, कर्तव्य-ऐक्य और भाषा-ऐक्य भारतवर्ष को नया जीवन प्रदान करने के लिए नितान्त आवश्यक है।

राष्ट्रभाषा किसे कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक है जिससे पाठक उसका कुछ से कुछ अर्थ न समझ ले। राष्ट्रभाषा से अभिप्राय किसी देश की उस भाषा से है जो उस सम्पूर्ण देश से सम्बन्धित कार्यवाहियो का माध्यम हो और जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारो का साहित्य सुरक्षित रहे। राष्ट्रभाषा से अभिप्राय देश की प्रान्तीय भाषाओ का बहिष्कार करके केवल एक सामान्य भाषा की स्थापना करना नही है। राष्ट्रभाषा प्रान्तीय भाषाओ का स्थान कभी नहीं ग्रहण कर सकती। दोनों के क्षेत्र पृथक् पृथक् हैं। राष्ट्रभाषा का सम्बन्ध सम्पूर्ण देश से है। प्रान्तीय भाषा का सम्बन्ध एक प्रान्त से ही है। प्रत्येक प्रान्त मे वहीं के निवासियो की मातृभाषा (प्रान्तीय भाषा) वहाँ की शिक्षा

और सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यों का माध्यम रहेगी ।

अब प्रश्न उठता है कि कौनसी भाषा भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा हो ? इस प्रश्न का उत्तर प्रायः दो प्रकार से दिया जाता है । कुछ लोग कहते हैं कि हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाया जाय । कुछ लोग कहते हैं कि यह पद हिन्दी को मिलना चाहिए । हमे यहाँ पर यही विचार करना है कि इन दोनो भाषाओ में से कौनसी भाषा राष्ट्रभाषा होने के अधिक उपयुक्त है । वास्तव मे हिन्दी और हिन्दुस्तानी में अधिक अन्तर नहीं हैं । हिन्दी का ऐसा रूप जिसमें उर्दू और अँगरेजी के प्रचलित शब्द गृहीत हो हिन्दुस्तानी कहलाता है ।

सबसे पहली विशेषता राष्ट्रभाषा में यह होनी चाहिए कि उसके बोलने वालो की सख्या अधिक हो, वह अधिक जन-समाज की भाषा हो । हिन्दुस्तानी का विस्तार हिन्दी की अपेक्षा बहुत कम है । हम देखते हैं कि हिन्दी का विस्तार किसी एक प्रान्त अथवा स्थान की सीमा के भीतर बद्ध नहीं है । समस्त भारतवर्ष मे एक कोने से दूसरे कोने तक इसका थोडा बहुत आधिपत्य जमा हुआ है और इसके द्वारा एक प्रान्त के निवासी दूसरे प्रान्त के निवासियो से अपने भावो और विचारो को किसी न किसी प्रकार प्रकट कर सकते हैं । कारण यह है कि बँगला, मराठी, गुजराती आदि आर्य-भाषाएँ हिन्दी से बहुत समानता रखती है । ये सभी सस्कृत से सम्बन्धित हैं और शब्द-भडार के लिए सस्कृत की ओर झुकती हैं । हिन्दी भी सस्कृत से सम्बन्धित है और सस्कृत के शब्द-भडार से अपने शब्द-भडार को सजाती है । हिन्दुस्तानी का क्षेत्र वे ही थोडे से प्रान्त हैं जिनकी मातृभाषा हिन्दी है या उर्दू । वहीं के लोग उसको समझ पाते हैं । अन्य प्रान्तों के लोग उर्दू से परिचित न होने के कारण हिन्दुस्तानी नहीं समझ सकते । हाँ, हिन्दी तो भली भाँति समझ सकते हैं । अतः स्पष्ट है कि विस्तार की दृष्टि से हिन्दी राष्ट्रभाषा होनी चाहिए हिन्दुस्तानी नहीं ।

राष्ट्रभाषा के लिए सरलता भी एक आवश्यक गुण है जिससे जो लोग उसे नही जानते वे शीघ्र ही कठिनाई के बिना उसे सीख जायँ। हिन्दी मे हिन्दुस्तानी की अपेक्षा यह गुण अधिक मात्रा मे विद्यमान है। जैसा कि अभी कहा जा चुका है भारतीय आर्य भाषाएँ सभी संस्कृत से सम्बन्धित हैं। उर्दू अरबी–फारसी से प्रभावित होने के कारण संस्कृत से सम्बन्ध नही रखती। अतः हिदुस्तानी जिसमे हिन्दी, उर्दू और अँगरेजी तीनो भाषाओ के शब्द रहते है संस्कृत से उतनी सम्बन्धित नही है। यही कारण है कि मराठी, बँगला आदि के जाननेवाले हिन्दी तो सुगमता से सीख जाते है पर हिन्दुस्तानी नहीं। किसी भी मनुष्य के लिए हिन्दी का साधारण ज्ञान प्राप्त करना कुछ कठिन कार्य नहीं है। थोडे से समय मे ही मनुष्य हिन्दी मे विचार–विनिमय करना सीख सकता है। यह देखा गया है कि जो विदेशी थोडे समय के लिए भी हिन्दी भाषा-भाषी लोगों के सम्पर्क मे आते है वे विचार व्यक्त करने के योग्य टूटी-फूटी हिन्दी सीख ही लेते हैं। इसी से हिन्दी की सरलता का अनुमान किया जा सकता है।

राष्ट्रभाषा के लिए प्राचीनता का गौरव भी वाछनीय है। जैसे किसी जाति की उन्नति के लिए उसका प्राचीन इतिहास आवश्यक है उसी प्रकार भाषा का प्राचीन साहित्य उसको शक्ति प्रदान करने के लिए आवश्यक है। जब कोई भाषा पर्याप्त समय तक साहित्य द्वारा मँज जाती है तभी वह राष्ट्रभाषा के योग्य होती है। हिन्दी और हिन्दुस्तानी मे से हिन्दी को प्राचीनता का गौरव प्राप्त है, हिन्दुस्तानी को नही। हिन्दी का जन्म विक्रम की ११ वीं शताब्दी मे ही होगया था। हिन्दुस्तानी का जन्म अभी हाल मे कोई २० या २५ वर्ष पूर्व ही हुआ है। उसमें कोई साहित्य भी अभी तक नहीं रचा गया है और न ठीक-ठीक उसका रूप ही निश्चित हो पाया है। उसकी कोई अपनी लिपि भी नही है। कुछ लोग उसे उर्दू–लिपि मे और कुछ लोग उसे देवनागरी लिपि मे लिखते हैं। ऐसी भाषा को कैसे राष्ट्रभाषा बनाया जा सकता है, यह समझ मे नही आता।

राष्ट्रभाषा के आसन पर वही भाषा आसीन की जानी चाहिए जिसका सम्बन्ध देश की संस्कृति और सभ्यता से रहा हो। इस दृष्टि से भी हिन्दी ही राष्ट्रभाषा के उपयुक्त ठहरती है, हिन्दुस्तानी नहीं। हिन्दी-साहित्य में भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता भरी पड़ी है। संस्कृत के प्रायः सभी प्रधान ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दी में हो चुका हैं। वेद, महाभारत, वाल्मीकि-रामायण, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थ जिनमें भारतीय सभ्यता सुरक्षित ही है हिन्दी में अनुवादित हो गए हैं। अनेक मौलिक ग्रन्थ भी हिन्दी में रचे गए हैं, जो भारतीय संस्कृति के निर्देशक हैं, जो हमारे प्राचीन समाज का, धर्म का, राजनीति का, स्वरूप हमारे नेत्रों के सम्मुख उपस्थित करते हैं। 'पृथ्वीराजरासो' को ही ले लीजिए। उसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि हमारे यहाँ शरणागत-रक्षा को विशेष महत्व दिया जाता था। पृथ्वीराज को उसकी शरण में आई हुई एक स्त्री की रक्षा करने के कारण ही मुहम्मद गोरी से लोहा लेना पड़ा था। 'रामचरितमानस' तो हिन्दू-सभ्यता का अक्षय भंडार है। गार्हस्थ्य जीवन, समाज, धर्म, राजनीति आदि अनेक विषयों को गोस्वामीजी ने भारतीयता के रंग में रँग कर सर्वसाधारण के सम्मुख उपस्थित किया है। भाई-भाई का, माता-पिता और संतान का, पति-पत्नी का, राजा-प्रजा का स्वामी-सेवक का, सम्बन्ध 'रामचरितमानस' में अनूठे ढंग से दिखलाया गया है। समाज में चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) की योजना करके उसकी समुचित व्यवस्था की गई है। राजनीति-क्षेत्र में एकतंत्र और प्रजातंत्र शासन प्रणालियों का सम्मिश्रण करके गंगा-यमुना का संगम कराया गया है। धर्म का अधिकार मनुष्य के सभी कार्यों पर रक्खा गया है। क्षण भरके लिए भी मनुष्य धर्म के घेरे से, नियंत्रण से, अलग नहीं हो सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी का अटूट और दृढ़ सम्बन्ध संस्कृत से होने के कारण हमारी सभ्यता का, हमारे ज्ञान का भंडार, उसमें सुरक्षित है।

हिन्दुस्तानी मे तो अभी साहित्य ही नहीं है। फिर उसका भारतीय सभ्यता और सस्कृति से सम्बन्ध कैसा ?

हिन्दी की देवनागरी लिपि एक वैज्ञानिक लिपि है। वह अनेक गुणो से परिपूर्ण है, यह बात किसी से छिपी नही है। देवनागरी सरल, सुबोध और दोपमुक्त है। इस लिपि मे एक भी अनावश्यक वर्ण नहीं मिलता। ध्वनि (Phonetics) की दृष्टि से भी यह भरी-पूरी है। भारतवर्ष के कुछ मनुष्य देवनागरी की अपेक्षा रोमन लिपि को अधिक अच्छी समझते हैं। वस्तुतः रोमन लिपि देवनागरी की समता भी नहीं कर सकती, उससे अच्छी तो क्या हो सकती है। ध्वनि की दृष्टि से रोमन लिपि अत्यन्त दोपपूर्ण है। अँगरेजी, फ्रेंच आदि भापाओं मे शब्दो के हिज्जो और उच्चारणो को रटना पडता है। एक सी ध्वनि का बोध कराने को भिन्न-भिन्न मात्राएँ प्रयुक्त होती हैं। उदाहरण स्वरूप 'Net' और 'But' शब्दो की ध्वनि तो एक ही है पर उसी को प्रकट करने के लिए दो विभिन्न मात्राओं 'e' और 'u' का प्रयोग हुआ है। उर्दू-लिपि भी दोपपूर्ण है। कभी-कभी किसी शब्द का कोई और शब्द पढ लेना हास्यास्पद है। जैसे—'سونا' (सोना) 'सूना' पढ लिया जाता है। कतिपय शब्दो के हिज्जे भी अँगरेजी के समान रटने पड़ते है। जैसे 'तोता' लिखना है। नहीं मालूम 'ت' 'ते' का प्रयोग करें या 'ط' 'तोय' का। इस प्रकार की कठिनाइयाँ हिन्दी की लिपि देवनागरी में नही। वहाँ तो प्रत्येक ध्वनि के लिए एक अक्षर नियत है। हाँ, विदेशियों के ससर्ग के कारण कुछ नवीन ध्वनियो के प्रकट करने की आवश्यकता हो रही है। पहले वे ध्वनियाँ हमारे देश में थी ही नहीं, अतः देवनागरी में उनको व्यक्त करने के अक्षर नहीं पाए जाते हैं। अब आवश्यकतानुसार उसमे परिवर्तन किए जा रहे है। जैसे अँगरेजी के 'College' (कॉलेज) शब्द की ध्वनि को प्रकट करने के लिए 'ॅ' चिन्ह की उद्भावना हुई है। वास्तव में देवनागरी के समान श्रेष्ठ लिपि हमें दूसरी नही मिलती। अतः राष्ट्र के कल्याण के लिए हम

देवनागरी लिपि को ही भारत की राष्ट्रलिपि बना सकते हैं। भारतीय आर्यभाषाओं की लिपियों का उद्गम एक ही लिपि से हुआ है। यही कारण है कि देवनागरी, बॅगला, गुजराती, उड़िया, मैथिली आदि लिपियो मे बहुत समानता है। इसलिए विभिन्न प्रान्तीय लोगों को देवनागरी सीखना बहुत सरल है।

इतने गुणो के होते हुए भी हिन्दी का राष्ट्रभापा बनना कुछ लोगों को खलता है। इतने गुणो के होते हुए भी हिन्दी के साथ घोर अन्याय हो रहा है। उसको अपने उचित अधिकार से वचित किया जा रहा है। क्यो? कारण साम्प्रदायिकता है। कहना नहीं होगा कि साम्प्रदायिकता ने ही आज तक भारतवर्ष को एक राष्ट्र नहीं बनने दिया है। और वही अब हिन्दी को राष्ट्रभाषा नहीं बनने दे रही है। मुसलमानो ने विषम समस्या उपस्थित कर दी है। वे कहते है कि हिन्दी की अपेक्षा उर्दू राष्ट्रभाषा बनने की अधिक क्षमता रखती है। वास्तव मे यह कथन नितान्त भ्रमपूर्ण है। न तो उर्दू का विस्तार ही अधिक है, न वह उतनी सरल ही है, न उसका साहित्य ही उतना श्रेष्ठ है और न उसकी लिपि ही देवनागरी के समान वैज्ञानिक है। इस दशा मे समझ में नही आता किस प्रकार उर्दू को राष्ट्रभापा का पद प्रदान किया जा सकता है।

अत स्पष्ट है कि न तो हिन्दुस्तानी मे राष्ट्रभापा होने की क्षमता है और न उर्दू में। भारतवर्ष की समस्त भापाओं मे हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जो राष्ट्रभाषा के उच्चपद की पूर्ण अधिकारिणी है। राष्ट्रनिर्माण के लिए हमे साम्प्रदायिकता का सकुचित एव क्षुद्र विचार छोड़कर राष्ट्र के कल्याण का ध्यान रखना होगा और हिन्दी राष्ट्रभापा बनानी होगी।

'सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसवदास'

रूप-रेखा —

(१) प्रस्तावना – उक्ति का अर्थ

(२) सूर और तुलसी की तुलना —

(क) सूर का कृष्ण-भक्त और तुलसी का राम-भक्त होना

(ख) दोनों की उपासना मे भेद

(ग) सूर का मानव-जीवन के आत्मपक्ष को और तुलसी का आत्मपक्ष और लोकपक्ष दोनो को अपनाना

(घ) सूर का मुक्तक रचना और तुलसी का मुक्तक और प्रबन्धात्मक दोनों प्रकार की रचनाएँ करना

(ङ) सूर का गीत–पद्धति पर और तुलसी का प्रचलित समस्त काव्य–पद्धतियों पर रचना करना

(च) सूर का ब्रज भाषा में और तुलसी का ब्रज और अवधी दोनों मे कविता करना

(छ) सूर का वात्सल्य तथा शृङ्गार को और तुलसी का सभी रसो को अपनाना

(ज) सूर की अपेक्षा तुलसी को बाह्य दृश्य-चित्रण मे अधिक सफलता मिलना

(झ) तुलसी की अपेक्षा सूर की उक्तियो का अधिक अनूठा होना

(३) केशव में सूर और तुलसी के समान मार्मिकता का अभाव

(४) केशव में प्रकृति-निरीक्षण का अभाव
(५) चरित्र-चित्रण मे केशव की असफलता
(६) भाषा, कथोपकथन, कल्पनाशक्ति और छंद-ज्ञान की दृष्टि से केशव का महत्व
(७) उपसंहार—सारांश

इस उक्ति के अनुसार हिन्दी-साहित्याकाश के सूरदासजी सूर्य, तुलसीदासजी चन्द्रमा और केशवदासजी तारे हैं । इसमे तीनो का सापेक्षिक महत्व बतलाया गया है । पर क्या यह ठीक है ?

पहले तुलसी और सूर को लीजिए । तुलसीदासजी राम–कवि थे और सूरदासजी कृष्ण–भक्त कवि । तुलसीदासजी ने राम-भक्ति-काव्य की सृष्टि की और सूरदासजी ने कृष्ण-भक्ति-काव्य की । तुलसीदासजी की उपासना दास्य भाव की थी और सूरदासजी की सख्य भाव की । तुलसीदासजी द्वारा निर्मित साहित्य मनुष्य-जीवन के आत्मपक्ष और लोकपक्ष दोनो अंगो को लेकर चला है । उन्होने अपने उपास्य देव राम मे जहाँ सौन्दर्य और सदाचार का चरम उत्कर्ष दिखलाया है वहाँ उनमे लोक की रक्षा करनेवाली असीम शक्ति भी बतलाई है । उनके राम दुष्ट-दलनकारी समाज-व्यवस्थापक राम है । सूरदासजी का साहित्य मानव-जीवन के आत्मपक्ष को लेकर आगे बढा है । उन्होने अपनी भक्ति के आलम्बन कृष्ण के व्यक्तिगत जीवन को ही लिया है, समाज से सम्बन्धित उनके रूप की प्रतिष्ठा नहीं की है । व्यक्तिगत जीवन मे भी कृष्ण के सौन्दर्य ने उनको जितना अधिक आकर्षित किया है उतना शील ने नही । भगवान की शक्ति, शील और सौन्दर्य इन तीन विभूतियों मे से सौन्दर्य ने ही सूर की आत्मा को अपनी ओर खीचा है । सूर के कृष्ण हँसते-खेलते प्रेमोन्मत्त गोपिकाओ से घिरे हुए कृष्ण हैं, समाज की रक्षा करने वाले कृष्ण नही । यद्यपि कृष्ण के चरित्र मे लोकपक्ष का अभाव नही है, यद्यपि उन्होने गोकुल मे रहते हुए राक्षसो का वध करके और आगे चलकर मथुरा मे अत्याचारी कस को मारकर अपने

लोक-रक्षक रूप को भी जनता के सम्मुख प्रतिष्ठित किया तथापि सूर की वृत्ति कृष्ण के इस रूप मे लीन न हुई । सूर तो अपने रग में मस्त रहने वाले भक्त कवि थे। समाज की क्या दशा है, वह किधर जा रहा है उसकी चिंता उनको न थी। इसकी चिता थी तुलसी को जिन्होंने राम के शील-शक्ति-सौन्दर्य-समन्वित चरित्र को जनता में प्रतिष्ठित किया और अपने राम को लोक की रक्षा करने वाला बतलाया। 'रामचरितमानस' में शिवजी के मुख से वे एक स्थान पर कहलाते हैं—

जब जब होय धरम कै हानी,
बाढहि असुर अधम अभिमानी ।
करहि अनीति जाइ नहिं बरनी,
सीदहि विप्र धेनु सुर धरनी ।
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा,
हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा ॥

वास्तव मे यदि ससार मे दुष्टों को, अत्याचारियों को, दूर करने वाला पैदा न हो तो ससार स्थित ही नही रह सकता।

उपासना-भेद के अतिरिक्त तुलसी और सूर मे अन्य कई बातो में भी अन्तर पाया जाता है। सूर ने काव्य के मुक्तक-क्षेत्र मे ही अपनी दिव्य वाणी का सचार किया है। उनका 'सूरसागर' मुक्तक-काव्य माना जाता है प्रबन्ध-काव्य नहीं। तुलसी ने काव्य के प्रबन्ध और मुक्तक दोनों क्षेत्रो मे अपनी कविता-सुरसरी को प्रवाहित किया है। उन्होंने 'रामचरितमानस' नामक प्रबन्ध काव्य की रचना की है जिसकी विदेशी विद्वानो ने भी मुक्त-कठ से प्रशसा की है। मुक्तक-क्षेत्र में उनकी गीतावली, विनयपत्रिका, दोहावली, कृष्णगीतावली आदि रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। प्रबन्ध और मुक्तक काव्य के दोनो क्षेत्रो पर समान अधिकार रखनेवाला यदि कोई कवि हुआ तो तुलसी। यह विशेषता तुलसी की प्रतिभा के विस्तार की परिचायिका है।

सूरदासजी ने अपनी कविता गीत-पद्धति पर की है। जयदेव और

विद्यापति ने जिस शैली को अपनाकर कृष्ण के गुण गाए उसी को लेकर सूरदासजी भी आगे बढ़े हैं। उनके समय मे अन्य शैलियाँ भी प्रचलित थी पर उन्होंने अपने को गीत-शैली तक ही सीमित रक्खा, अन्य शैलियो मे कोई भी रचना नही की। तुलसीदासजी ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से काव्य की जितनी भी शैलियाँ उनके समय में प्रचलित थीं सभी में कुछ न कुछ रचनाएँ की। उनके समय मे (१) वीरगाथा-काल की छप्पय-पद्धति (२) कबीर की दोहा-पद्धति (३) जायसी की दोहा--चौपाई-पद्धति (४) विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति और (५) गग आदि भाटो की कवित्त-सवैया-पद्धति प्रचलित थी। पहली पद्धति पर हमें उनकी 'कवितावली' के कुछ छप्पय दूसरी पद्धति पर 'दोहावली', तीसरी पद्धति पर 'रामचरितमानस' चौथी पद्धति पर 'गीतावली' 'कृष्णगीतावली' और विनय-पत्रिका और पाँचवी पद्धति पर 'कवितावली' उपलब्ध है। विविध शैलियो मे उच्च कोटि की रचना करने मे उन्होंने कमाल किया है। कुछ नमूने देखिए—

डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्बै समुद्र सर।
ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर ॥
दिग्गयद लरखरत, परत दशकठ मुक्खभर।
सुर विमान हिमभानु भानु सघटित परस्पर ॥
चौके विरचि सकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ।
ब्रह्माड खड कियो चड धुनि जबहि राम सिव धनु दल्यौ ॥

(छप्पय-पद्धति)

वनिता बनी स्यामल गौर के बीच, विलोकहु री सखी! मोहिं सी ह्वै।
मग जोग न कोमल क्यो चलि हैं? सकुचात मही पदपकज छ्वै ॥
तुलसी सुनि ग्राम बधू बियकी, पुलकी तन औ चले लोचन च्वै।
सब भाँति मनोहर मोहन रूप अनूप हैं भूप के बालक द्वै ॥

(कवित्त-सवैया-पद्धति)

अब लौं नसानी अब न नसैहौं ।
रामकृपा भवनिसा सिरानी जागे फिर न डसैहौं ॥
पायो नाम चारु चिंतामनि, उर-कर तें न खसैहौं ।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं ॥
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं ।
मन-मधुकर पन करि तुलसी रघुपति-पद कमल बसैहौं ॥

(गीत-पद्धति)

सूर ने अपनी कविता को ब्रज-भाषा में रचा है । यद्यपि उनके समय में अवधी भी काव्य-भाषा थी तथापि उन्होंने उसको नहीं ग्रहण किया। भाषा पर जैसा विस्तृत अधिकार गोस्वामी तुलसीदास का देखा जाता है वैसा सूर का नहीं । ब्रज-भाषा और अवधी दोनों पर समान एवं पूर्ण अधिकार उनका था, यह बात उनके काव्य-ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होती है। 'रामचरितमानस' साहित्यिक अवधी में है। 'गीतावली', 'कवितावली', 'कृष्णगीतावली' और विनयपत्रिका की भाषा ब्रज-भाषा है । 'रामलला नहछू', 'बरवैरामायण', 'जानकीमंगल' और 'पार्वतीमंगल' सभी कीभाषा बोलचाल की पूरबी अवधी है । विस्तार के अतिरिक्त सूर की भाषा कई स्थानों पर शिथिल भी पड़ गई है । वाक्य-दोष तथा लिंग-सम्बन्धी त्रुटियाँ भी उसमें कहीं कहीं पाई जाती हैं। पर तुलसी की भाषा सर्वत्र परिष्कृत एवं व्यवस्थित है ।

विषय की दृष्टि से भी गोस्वामीजी की अपेक्षा सूरदासजी का क्षेत्र संकुचित है । मनुष्य-जीवन की जितनी अधिक दशाओं का समावेश गोस्वामीजी ने अपनी कविता में किया है उतनी का सूरदासजी ने नहीं। सूरदासजी ने मानव-जीवन की दो ही वृत्तियाँ ली हैं—बालवृत्ति और यौवनवृत्ति । केवल वात्सल्य और शृङ्गार दो ही क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूरदासजी ने अपने बंद नेत्रों से किया है उतना हिन्दी के किसी कवि ने नहीं। वे तो इसका कोना कोना झाँक आए हैं । दूसरों के लिए उन्होंने कुछ नहीं छोड़ा है । संयोग एवं

वियोग—शृङ्गार के दोनो पक्षो को बहुत विस्तार के साथ उन्होने अपने काव्य में स्थान दिया है। गोस्वामीजी ने मानव-जीवन की छोटी बड़ी प्रायः सभी वृत्तियो की व्यजना अपने काव्य मे की है। इसके लिए उन्हे राम के चरित्र से अच्छा चरित्र और कौनसा मिल सकता था? राम का विस्तृत चरित्र भावो की समष्टि है। उसमे प्रेम, शोक, भय, उत्साह, हास्य, क्रोध आदि सभी भावो का मसाला मिलता है। जनकपुर की वाटिका मे सीता और राम के मिलन पर प्रेम का, रामचन्द्रजी के वन-गमन के अवसर पर शोक का, हनुमानजी के लका जलाने पर भय का, राक्षसो के बध करने पर उत्साह का, नारद-मोह के अवसर पर हास्य का और परशुराम-सवाद के अवसर पर क्रोध का चित्रण हुआ है। 'कवितावली' के लका काड मे राक्षसो की लोथो के साथ पिशाचिनियो की क्रीड़ा बीभत्स रस की जुगुप्सा का सुदर नमूना है। द्रोणाचल को लेजाते हुए हनुमानजी का जो चित्र कवि ने 'कवितावली' मे खींचा है वह अद्भुत रस का उत्कृष्ट उदाहरण है। शात रस से तो सारा उत्तर काड भरा पड़ा है। सूरदासजी के समान बाल-सुलभ भावो एव चेष्टाओ का चित्रण तुलसीदासजी ने अपनी 'गीतावली' मे किया है पर उनको सूरदासजी की सी सफलता नही मिली है। उसमें राम—रूप-वर्णन की ही प्रधानता है। अतः इसमे सन्देह नही कि बाल-लीला का जैसा सूक्ष्म स्वाभाविक और हृदयग्राही वर्णन सूरदासजी का मिलता है वैसा तुलसीदासजी का नही। सूरदासजी इस दृष्टि से तुलसीदासजी से ऊपर उठे हुए है। कही-कही यह भी देखा जाता है कि सूर की सी तन्मयता तुलसी मे नही है। देखिए सूर का यह पद कितना मार्मिक है—

अति मलीन वृषभानुकुमारी।
हरि श्रमजल अतर तनु भीजे ता लालच न धुआवति सारी॥
अधोमुख रहति उरध नहिं चितवति ज्यो गथ हारे थकित जुआरी।
छूटे चिहुर, बदन कुम्हिलाने, ज्यो नलिनी हिमकर की मारी॥

हरि सँदेस सुनि सहज मृतक भई, इक बिरहिनि दूजे अलि जारी।
सूर श्याम बिनु यों जीवति है व्रजवनिता सब श्यामदुलारी ॥

मानव-अंतःकरण के अतिरिक्त बाह्य-दृश्यों के चित्रण में भी तुलसीदासजी ने सूरदासजी की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त की है। वैसे तो तुलसी का अधिकतर प्रकृति-चित्रण सूरदासजी के समान अलंकार-सामग्री के रूप में अथवा उद्दीपन विभाव के रूप में हुआ है पर कहीं-कहीं उन्होंने संश्लिष्ट योजना द्वारा उसका जीता-जागता स्वरूप उपस्थित कर दिया है। यह उसी स्थान पर हुआ है जहाँ उनकी अंतरात्मा प्रकृति में लीन हो गई है। चित्रकूट ऐसा ही स्थान था। यही कारण है कि चित्रकूट का यह वर्णन कितना सुन्दर बन पड़ा है, देखिए—

सोहत श्याम जलद मृदु घोरत धातु-रँगमगे सृंगनि।
मनहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर मुनि-भृंगनि ॥
सिखर-परस घन घटहि मिलति बगपाँति सो छबि कबि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी ॥

मुद्राओं का भी चित्र तुलसीदासजी ने बड़ा अच्छा अंकित किया है। देखिए, शिकार खेलने के अवसर पर मृग को लक्ष्य करके बाण खींचते हुए राम कैसी मुद्रा में दिखलाए गए हैं—

जटा मुकुट सिर सारस-नयननि गौंहैं तकत सुभौंह सकोरे।

सूरदासजी के काव्य में संश्लिष्ट योजनात्मक चित्रणों और मुद्राओं के वर्णनों का प्रायः अभाव पाया जाता है।

काव्य की रमणीयता बढ़ाने में उक्ति का अनूठापन भी विशेष स्थान रखता है। यदि किसी भाव की व्यंजना के लिए वक्र उक्ति का आश्रय लिया जाय तो काव्य का माधुर्य अधिक बढ़ जाता है। सूर और तुलसी दोनों ही ने इस युक्ति का व्यवहार किया है, पर सूर तुलसी की अपेक्षा इस कार्य में अधिक सफल हुए हैं। सूर ने गोपिकाओं के मुख से किस अनूठे ढंग से कृष्णजी के सगुण रूप का परित्याग असंभव बतलाया है, देखिए—

उर में माखनचोर गडे।
अब कैसहुँ निकसैत नहि ऊधो, तिरछे ह्वै जु अडे ॥

एक दूसरे स्थान पर इसी प्रकार उद्धव के 'निराकार' शब्द पर गोपिकाओ की वचन-वक्रता का परिचय इस पद मे मिलता है। वे राधा से कहती है--

मोहन मॉग्यो अपनो रूप।
या ब्रज बसत अँचै तुम बैठी, ता बिनु तहॉ निरूप ॥

अब केशव को लीजिए। केशव में सूर अथवा तुलसी के समान मार्मिकता नही पाई जाती। उनकी 'रामचन्द्रिका' मे राम-कथा के मार्मिक स्थल प्रायः छोड़ दिए गए है। जहॉ भावो की व्यजना हुई भी है वहॉ कई स्थानो पर अस्वाभाविकता आ गई है। केशव नहीं जानते थे कि कैसी अवस्था में, कैसी परिस्थिति मे, मानव-हृदय में कैसे भाव उदित होते है। वे एक राजाश्रयी कवि थे। मानव-जीवन की विविध दशाओ का अनुभव उन्होने कभी नहीं किया था। यही कारण है कि उनके राम बन जाते समय अपनी माता कौशल्या को पातिव्रत-धर्म का उपदेश देते है।

प्रकृति के चित्रण मे तो केशव ने हृदय--हीनता का पूर्ण परिचय दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति में उनकी आत्मा कभी नहीं रमी। यही कारण है कि उन्होने एक स्थान पर कहा है—

देखे मुख भावै अन देखेही कमल-चद
ताते मुख मुखै सखी कमलौ न चद री।

क्या कोई सहृदय मनुष्य कमल और चन्द्रमा मे कुछ भी सौन्दर्य नही पाता? उनके प्रकृति के वर्णनो मे देश-काल का भी ध्यान नहीं रक्खा गया है। विश्वामित्र के आश्रम के वृक्षो और पक्षियो की नामावली देते हुए उन्होने देश-काल का कुछ भी ध्यान नहीं रक्खा है। देखिए—

तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर।
मजुल बजुल तिलक लकुच कुल नारिकेर वर ॥
एला ललित लवग सग पुगीफल मोहैं।
सारी शुक कुल कलित चित्त कोकिल आलि मोहैं ॥

क्या कोई मनुष्य कह सकता है कि विहार की ओर जहाँ विश्वामित्रजी का आश्रम था इलायची, लोंग, सुपारी इत्यादि पैदा होती है? सूर अथवा तुलसी ने कही भी ऐसा निकृष्ट प्रकृति-वर्णन नही किया है।

चरित्र-चित्रण मे भी केशव सफल नहीं हुए है। सूर को तो मुक्तक-रचना करने के कारण चरित्र-चित्रण को स्थान ही नही मिल सका पर तुलसी ने इस कार्य मे पूर्ण सफलता प्राप्त की है। उनके राम, भरत, लक्ष्मण, दशरथ, मथरा, कैकेयी, कौशल्या आदि पात्र और पात्रियो के चरित्र-चित्रण जीते जागते हुए है। केशव ने राम जैसे आदर्श पात्र को भी नीचे गिरा दिया है। राम बन जाते समय लक्ष्मण को जो शिक्षा देते है उससे ज्ञात होता है कि वे भरत के चरित्र पर सदेह करते हैं। वे कहते है—

धाम रहौ तुम लक्ष्मण राज की सेव करौ।
मातनि के सुनि तात सो दीरघ दुःख हरौ ॥
आइ भरत्थ कहा धौ करै जिय भाय गुनौ।
जौ दुख देइँ तो लै उरगौ, यह बात सुनौ ॥

परन्तु उपर्युक्त विवरण से यह नही समझ लेना चाहिए कि केशव में अवगुण ही अवगुण थे गुण कोई था ही नहीं। उनके समान भाषा पर अधिकार रखने वाले कवि हिन्दी मे थोडे ही हुए है। जिस तरह जिस ओर वे भाषा को मोड़ना चाहते थे मोड़ देते थे। उनकी भाषा, में प्रवाह है। कथोपकथन तो उनके से अच्छे किसी भी अन्य हिन्दी कवि के नही मिलते। कल्पना शक्ति की प्रचुरता भी उनमे देखी जाती है। अनेक प्रकार के छन्दो का ज्ञान भी उनका अनूठा है।

अन्त में हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि 'सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसवदास' उक्ति ठीक नही। सूर को सूर्य न कहकर तुलसी को सूर्य कहना अधिक न्याय-सगत है। जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है तुलसी का पलड़ा सूर के पलडे से अधिक है। अतः हम तो यही कहेगे कि हिन्दी काव्याकाश में तुलसी सूर्य, सूर चन्द्रमा और केशव तारे हैं। 'सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास' उक्ति के कहनेवाले ने यमक की छटा का ही ध्यान रक्खा है, ऐसा प्रतीत होता है। शायद कुछ लोग केशव को उडुगन का स्थान न देकर किसी अन्य कवि को वह स्थान दे। उनकी दृष्टि में केशव से अधिक श्रेष्ठ कोई और कवि हो सकता है। पर हमारी समझ मे केशव ही उक्त स्थान के अधिकारी हैं।

धर्म और विज्ञान का पारस्परिक सम्बन्ध

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—कुछ दिनो से विज्ञान का प्रसार और धर्म-क्षेत्र मे उसका प्रवेश

(२) धर्म और विज्ञान के पृथक् क्षेत्र

(३) विज्ञान और धर्म मे युद्ध

(४) विज्ञान द्वारा धार्मिक अंधविश्वासों का खंडन

(५) चन्द्रग्रहण का उदाहरण

(६) वर्षा का उदाहरण

(७) विज्ञान द्वारा किए गए धार्मिक आक्षेपों का जन साधारण पर प्रभाव

(८) विज्ञान का धर्म के शुद्ध स्वरूप पर आक्रमण न कर सकना

(९) मनुष्य के विकास के लिये विज्ञान और धर्म दोनो की आवश्यकता

(१०) उपसंहार—वास्तव मे धर्म और विज्ञान मे मित्र का सा सम्बन्ध होना

यह विज्ञान का युग है। ससार के कोने-कोने मे विज्ञान की दुन्दुभी बज रही है। चारो ओर वैज्ञानिक आविष्कारो और अनुसधानो की धूम है। दिन-दिन अन्यान्य विपयो मे इसका प्रवेश होता जा रहा है। इतिहास मे इसका पर्याप्त प्रवेश हो चुका है। घटनाओ की परीक्षा विज्ञान की कसौटी पर की जाती है। चिकित्सा-क्षेत्र मे इसने उलट-पुलट कर दी है। सारी प्रकृति इसकी क्रीड़ा-क्षेत्र बनी हुई है। यहाँ तक कि धर्म के क्षेत्र में भी विज्ञान का प्रवेश हो गया है। पहले धर्म और विज्ञान कोसों दूर थे, किन्तु आज वे बहुत निकट आ गए है।

धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है और विज्ञान का प्रकृति से। एक हृदय का परिष्कार करता है और दूसरा ज्ञान का प्रसार। मनुष्य को अपने विकास के लिए दोनो की आवश्यकता है। दोनो ही मानव-जाति के सुख के साधन है। पर दुःख का विषय है कि इन दोनो मे विरोध पाया जाता है। वैज्ञानिक धर्म को अधविश्वासो का समूह मात्र कहता है और धार्मिक विज्ञान को विलास और प्राण नाश का उपकरण मात्र समझता है।

विज्ञान और धर्म में सदैव से युद्ध होता आया है। विज्ञान ने बुद्धि की कसौटी पर कसकर ऐसी बाते हमारे सामने रक्खी हैं जो धर्म के सिद्धान्तो के प्रतिकूल है। धर्म ने हमे सिखाया है कि पृथ्वी स्थिर है, सूर्य पृथ्वी की परिक्रमा करता है, चन्द्रग्रहण राहु राक्षस द्वारा चन्द्रमा का ग्रसना है, सूर्य-चन्द्र देवता है, जल की वर्षा करने वाला इन्द्र देवता है आदि। पर विज्ञान इन बातो की सत्यता मे सदेह करता है और इनको अधविश्वास कहकर वास्तविकता की ढूढ़–खोज करता है। धर्म को यह हस्तक्षेप नहीं रुचता। सत्रहवीं शताब्दी मे इटली के प्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलीलियो ने अकाट्य प्रमाणो द्वारा यह सिद्ध कर दिया था कि सूर्य स्थिर है, पृथ्वी नहीं। पृथ्वी सूर्य के चारो ओर वृत्ताकार परिधि मे घूमती है। यह बात धर्म के विरुद्ध थी। अतः गैलीलियो को दड का भाजन होना पड़ा। उसे पोप ने कारावास का दड दिया और यह घोषित करने के लिए बाध्य किया कि पहले मैंने जिन बातो को सत्य समझा था वे झूठ है। गैलीलियो से प्रतिज्ञा कराई गई कि वह धर्म के विरुद्ध बातो का भविष्य मे कभी प्रचार न करेगा।

इसी प्रकार विज्ञान ने चन्द्रग्रहण के कारण की कल्पनात्मक कहानी का खडन किया है। धार्मिक ग्रन्थ बतलाते है कि समुद्र-मथन के पश्चात् समुद्र मे से अमृत निकला जिसको देवता और राक्षस दोनो पीने की इच्छा करने लगे। देवता नही चाहते थे कि अमृत राक्षसो के हाथ लग जाय। अतः दोनो में झगड़ा होने लगा। उसी समय भगवान

मोहिनी का रूप धारण करके दोनो पक्षो मे समझौता कराने के लिए आ उपस्थित हुए। मोहिनी ने देवताओ की पक्ति को अमृत देना आरम्भ कर दिया। कुछ समय पश्चात् आतुरता के कारण एक राक्षस देवताओ की पक्ति मे आकर बैठ गया। चद्रमा और सूर्य ने उसकी शिकायत मोहिनी से की। पर शीघ्रता के कारण उसको भी अमृत मिल गया और शिकायत पर ध्यान नही दिया जा सका। अत मे भगवान ने क्रुद्ध होकर उस राक्षस का शिर सुदर्शन चक्र से काट डाला। किन्तु वह मरा नहीं। वही राक्षस अवसर मिलने पर चन्द्रमा और सूर्य को खाने लगता है जिसको ग्रहण कहते हैं। विज्ञान ने यह प्रमाणित कर दिया है कि सूर्य और चन्द्रमा की विशेष स्थितियो मे क्रमशः चन्द्रमा और पृथ्वी की उन पर छाया पड़ती है जो उनके प्रकाश को हर लेती है। यही ग्रहण है।

विज्ञान इस बात को भी ठीक नही मानता कि इद्र देवता अपने इच्छानुसार जल की वर्षा करते हैं। विज्ञान का कहना है कि सूर्य के ताप से समुद्र का जल भाफ बन कर उड़ता रहता है। भाफ धूल के कण, धुआँ आदि पदार्थों के साथ मिलकर मेघ का शरीर धारण कर लेती है। यही मेघ किसी ठडी वस्तु के सम्पर्क मे आकर अपने में से भाफ को पुनः जल मे परिणत कर देता है। इसी को वर्षा होना कहते हैं। इसी प्रकार अन्य बहुत सी अड-बड बाते जो धर्म का अग समझी जाती हैं विज्ञान की कसौटी पर झूठी उतरती है।

इसका परिणाम यह हुआ है कि लोगो का विश्वास धर्म पर से धीरे-धीरे उठता जा रहा है, समाज पर से धर्म का बधन ढीला होता जा रहा है। हर एक पीढी में धर्म परिवर्तित होता जाता है। यहाँ तक कि कुछ लोग तो धर्म को जीवन मे अनावश्यक मानने लगे है। कुछ लोग ईश्वर के अस्तित्व में भी सदेह करने लगे हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार विज्ञान ने धर्म के अन्य अगो को झूठा साबित कर

दिया है उसी प्रकार सम्भव है वह भविष्य में ईश्वर के अस्तित्व को भी झूठा प्रमाणित कर दे, ईश्वर नाम की कोई वस्तु ही न रहे।

ऐसी दशा मे प्रश्न उठता है कि क्या विज्ञान ईश्वर के अस्तित्व को झूठा साबित कर देगा? क्या विज्ञान किसी दिन धर्म का लोप कर देगा? क्या इस ससार में धर्म का नाम नही रहेगा? उत्तर मे यही कहना है कि विज्ञान ईश्वर के अस्तित्व को कभी नहीं मिटा सकता। वह प्रकृति में होनेवाले प्रत्येक कार्य की व्याख्या नहीं कर सकता। वैज्ञानिको का अनुभव है कि उनके सिद्धान्त किसी किसी स्थान पर काम नहीं करते। जैसे यह एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है कि अधिक ताप अथवा अधिक शीत में प्राणी जीवित नही रह सकता अथवा आक्सीजन को छोडकर प्राणी जीवन धारण नही कर सकता। परन्तु खोज से ज्ञात हुआ है कि आकाश के ऊपरी भाग तथा बर्फीली ठण्ड मे भी जीव का अस्तित्व है। उल्कापात में गिरे हुए पत्थरो के अन्दर भी जीवाणु पाए गए हैं। कभी कभी सृष्टि मे कार्य–कारण–सम्बन्ध का भी अपवाद मिल जाता है जिसको देखकर वैज्ञानिक ठिठक जाते हैं। सारी सृष्टि के कार्य नियमित रूप से हुए चले जाते हैं। कही भी व्यतिक्रम नहीं देखा जाता। बिना किसी नियन्ता के यह कैसे सभव है? बिना किसी नियन्ता के यह सुन्दर व्यवस्था किसने की कि वृक्ष जीवधारियो को ऑक्सीजन दे और जीवधारी वृक्षो को कारबोनिक एसिड गैस? यदि यह व्यवस्था न होती तो दोनो मे मे किसी का भी जीवन सभव न था। इस प्रकार की व्यवस्था करनेवाला ईश्वर है।

धर्म के शुद्ध और सच्चे स्वरूप को विज्ञान कभी आक्रान्त नही कर सकता। वह धर्म के बाह्याडम्बरो का ही निराकरण करता रहेगा, उसके अधविश्वासो को ही हटाता रहेगा। ईश्वर और आत्मा ही धर्म के सच्चे तत्व हैं। प्रत्येक धर्म का लक्ष्य आत्मा को शाति प्रदान करना है। आत्मा को शांति तभी मिल सकती है जब वह ईश्वर में मिलकर एक हो जाय। अतः प्रत्येक धर्म आत्मा को इस

योग्य बनाने का प्रयत्न करता है कि वह ईश्वर की प्राप्ति कर सके। वह उसके परिष्कार के लिए, उसकी शुद्धि के लिए, परोपकार, सत्य, अहिंसा, सदाचार, दया, उदारता आदि गुणों के अभ्यास का विधान करता है। अन्य बाते धर्म के बाह्याग है। उनके रहने या न रहने से धर्म के वास्तविक रूप पर कुछ भी प्रभाव नही पड़ता। उसका असली रूप सदैव खरे स्वर्ण की भाँति चमकता रहेगा। विज्ञान धर्म के रूप को निखार कर उसके सहायक का काम करता है। अतः सच पूछा जाय तो विज्ञान को धर्म का विरोधी कहना भ्रम-पूर्ण है। निस्सदेह वह धर्म के आडम्बरो का विरोधी है, परन्तु उसके शुद्ध रूप का नहीं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है मनुष्य को अपने विकास के लिए धर्म और विज्ञान दोनो की नितान्त आवश्यकता है। विज्ञान सत्य का अनुसधान करता है, अधकार मे प्रकाश फैलाता है, मानव-समाज के ज्ञान की अभिवृद्धि करता है और रूढियो का खडन करता है। धर्म मनुष्य को आत्मिक बल देता है, उसके हृदय को शुद्ध बनाता है और उसे अच्छे-अच्छे कार्यों मे प्रवृत्त करता है। धर्म अधे की लकड़ी है जो उसे पाप के गड्ढो मे गिरने से बचाती है। कभी-कभी जब मनुष्य को ससार मे चारों ओर अधकार दिखलाई देता है, तब धर्म ही उसे प्रकाश दिखलाता है, तब धर्म ही उसकी रक्षा करता है। धर्म ने न जाने कितनो को पतित होने से बचाया है और आज भी बचा रहा है। महात्मा गाधी ने स्वय एक बार कहा था कि धर्म सर्वदा मेरी रक्षा करता रहा है। यदि धर्म न होता तो आज न जाने मेरी क्या दशा हुई होती। विज्ञान मनुष्य को ससार मे अधिक लिप्त करता है, उसे विलासी एव महत्वाकाक्षी बनाता है और उसके हृदय को कठोर करता है। अतः मनुष्यता की रक्षा के लिए, आत्मा की उन्नति के लिए, धर्म की सदैव आवश्यकता रहेगी। कभी भी विज्ञान उसके स्थान को न ले सकेगा।

अन्त में हमारी समझ में धर्म और विज्ञान का सम्बन्ध मित्र का सम्बन्ध है शत्रु का नही। यदि विज्ञान धर्म के ढकोसलो को दूर करता है तो यह अच्छी बात है। धर्म ढकोसलो में नही रहता। उसके वास्तविक निवास-स्थान पर विज्ञान का आक्रमण नही हो सकता। हरबर्ट स्पेसर ने ठीक ही कहा है—

"Doubtless, to the superstitions that pass under the name of religion, science is antagonistic; but not to the essential religion which these superstitions merely hide. अर्थात् निस्सदेह विज्ञान अधविश्वासो का विरोधी है जो धर्म के नाम से प्रसिद्ध है, पर वास्तविक धर्म का विरोधी नहीं जिसे अधविश्वास केवल ढक रहे हैं।

ससार परिवर्तनशील है। अतः यदि धर्म के बाहरी रूप में परिवर्तन होता है तो इसमे बुराई ही क्या है?

कविता और आचार

रूप-रेखा:—

(१) प्रस्तावना—कलावाद का कविता पर प्रभाव

(२) काव्य और जीवन का सम्बन्ध

(३) जीवन और आचार का सम्बन्ध

(४) काव्य और आचार के सम्बन्ध की आवश्यकता एवं उपयोगिता

(५) कविता का उद्देश्य और उसकी पूर्ति के लिए आचार की शिक्षा देने वाली कविता की आवश्यकता

(६) कविता मे प्रतिपादित जीवन-आदर्शों का अस्वाभाविक न होना

(७) आचार का काव्य के आवश्यक अगो को हानि पहुँचाने वाला न होना

(८) उपसंहार—लोकोपयोगी और अपनी आत्मा का हित करने वाली कविता में आचार के स्वर्ण-संयोग की आवश्कता

इधर कुछ दिनो से साहित्य-क्षेत्र मे 'कलावाद' का बोल बाला है। नवयुवक साहित्यिक इसके अंधभक्त हो रहे हैं। जिसे देखिए वह यही कहता हुआ पाया जाता है कि "कला कला ही के लिए" है, "कला का उद्देश्य कला ही" है। इस प्रवाद की भद्दी नकल पाश्चात्य साहित्य-विशेषकर अँगरेजी साहित्य-से हुई है। यूरोप मे कला के सिद्धान्त शीघ्र बदलते रहते हैं। डा० ब्रैडले ने इगलैण्ड मे कला-सम्बन्धी प्राचीन सिद्धान्तो का अन्त करके अपना नया सिद्धान्त 'Art for art's sake' (कला कला ही के लिए) प्रतिपादित किया। इसके

फल-स्वरूप लोग कला और जीवन के क्षेत्रों को पृथक्-पृथक् समझने लगे। वे समझने लगे कि कला और जीवन में कोई सम्बन्ध नही है। कला जीवन की समस्याओ का विवेचन नहीं करती। उसमे जीवन के सिद्धान्तो का समावेश नहीं होता। उसमें सदाचार का कोई स्थान नहीं है। यदि किसी कला में जीवन की दशाओं का उद्घाटन हो तो वह सच्ची कला नही है। कला किसी साध्य का साधन नहीं है। उसका साध्य वही है। इस प्रकार 'कलावाद' द्वारा काव्य और जीवन के सम्बन्ध-विच्छेद के प्रयत्न हुए है। इस प्रकार के विचारो का दुष्परिणाम अन्य कलाओ की भाँति काव्य पर भी पड़ा है। कविगण अनूठी उक्तियो को ही काव्य समझने लगे हैं। उनकी रचनाएँ जीवन और जगत से उदासीन होने लगी है। काव्य मे जीवन का विश्लेषण न रह कर सूक्तियो की भरमार होने लगी है। उस मे जीवन के पहलुओ का विवेचन न होकर कल्पना के साथ खिलवाड़ होने लगी है। यहाँ तक कि प्रबन्ध-काव्य का स्थान मुक्तक ने ले लिया है। अब प्रबन्ध-काव्य के लिए क्षेत्र ही नही रह गया है। जीवन से भिन्न सामग्री द्वारा प्रबन्ध-काव्य की रचना हो ही कैसे सकती है? वर्तमानकालीन कविता में ये प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः दृष्टिगत हो रही हैं। समालोचको की दृष्टि इस दे काव्य-प्रवाह पर पड़ने लगी है, यह हर्ष का विषय है।

क्या काव्य जीवन से अलग रह सकता है? क्या काव्य कल्पना की बेपर की उड़ान भरकर ही काव्य कहला सकता है? क्या काव्य उक्ति का अनूठापन मात्र है? कवि एक जीवधारी व्यक्ति है। उसका जो कुछ अनुभव होता है वह जीवन से ही होकर आता है। उसी अनुभव को वह काव्य-रूप मे समाज को भेंट कर देता है। काव्य की जगत या जीवन से भिन्न कोई सत्ता नही है। उसके द्वारा जीवन की भिन्न-भिन्न समस्याओ का विवेचन और दशाओ का उद्घाटन किया जाता है। वास्तव मे काव्य कवि के जीवन का चित्र है जिसमे जीवन-

सम्बन्धी बातों पर विचार प्रकट किया जाता है। हाँ, इतना अवश्य है कि सामान्य जीवन मे कवि के व्यक्तिगत जीवन का लय हो जाता है।

जीवन का विवेचन करता हुआ, उसका विश्लेषण करता हुआ, कवि जीवन के भीतरी सिद्धान्तो की व्याख्या से अपने को पृथक् नही कर सकता। किसी-न-किसी प्रकार की जीवन से सम्बन्धित शिक्षा वह देता ही है। जहाँ जीवन का विवेचन रहेगा वहाँ किसी-न-किसी प्रकार के नैतिक सिद्धान्त रहेंगे ही। नीति को जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। अतः नीति को काव्य से भी अलग नही किया जा सकता। देखिए मैथ्यू आर्नल्ड नामक एक सुप्रसिद्ध अँगरेज समालोचक क्या कहता है:—

Poetry is at bottom a criticism of life, that the greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life — to the question : How to live ? × × × A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life ; a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards life.

अर्थात् कविता वस्तुतः जीवन की आलोचना है। कवि का महत्व अपने विचारो को सुन्दर और सशक्त ढंग से जीवन—जीवन व्यतीत करने के प्रश्न—पर लागू करने में है। वह कविता जो नीति का विरोध करती है जीवन का भी विरोध करती है। वह कविता जो नीति से उदासीन रहती है जीवन के प्रति भी उदासीन रहती है।

कविता मानव-हृदय की अनुभूति है और मानव-हृदय मे ही पहुँचाई जाती है। अतः उसका और आचार का नित्य सम्बन्ध होना वांछनीय है। इन दोनो की घनिष्ठता के बिना लोकोपयोगी कविता का निर्माण नही किया जा सकता। जो कवि अपनी रचना मे आचार-सम्बन्धी बातो का उल्लेख नहीं करता, जो कवि समाज को सन्मार्ग पर

लाकर उसके उद्धार का प्रयत्न नही करता, जो कवि अपनी कविता में नीति और मर्यादा का प्रतिपादन नही करता, वह और क्या करता है ? उसकी रचना का अस्तित्व ही किस लिए है ? मर्यादा और आचार का बहिष्कार करके क्या कविता लोक का उपकार कर सकती है ? पवित्र भावो का सचार करना श्रेष्ठ कविता का कर्तव्य है । जो कविता आचार की शिक्षा नही देती वह अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकती । उसे कुछ समय पश्चात् ससार से मिट जाना होगा । जब वह समाज का कुछ हित–साधन ही नही करेगी तो समाज उसकी रक्षा क्यो करेगा ? समाज को आचार की नितान्त आवश्यकता होती है । नैतिक नियमो के पालन बिना समाज का कार्य नही चल सकता । प्रत्येक समाज में कुछ-न-कुछ नियम रहते है जिनका पालन करना उस समाज के प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यक होता है । यहा तक कि चोरो और डाकुओ के समाज में भी आचार का स्थान है । वे लोग सर्व–साधारण के साथ भले ही नैतिक व्यवहार न करे पर आपस मे तो नैतिक नियमो को बर्तते ही है । चोरी या लूट के धन–विभाजन मे वे न्याय से काम लेते है । एक दूसरे की वस्तु को कभी नहीं चुराते । कहना न होगा कि सामान्यतः जीवन मे सर्वत्र आचार या नीति का नियत्रण देखा जाता है । जहॉ उसका उल्लघन हुआ जीवन जीवन नही रह जाता । नीति-रहित जीवन विष के समान समाज का घातक होता है । तब यह कैसे सहन किया जा सकता है कि कवि अपने काव्य मे दुराचार का प्रति-पादन करे, हमे गदी बातो का पाठ पढ़ावे, हमारा आचार भ्रष्ट करे ।

कविता का उद्देश्य, जैसा कि हमारे पूर्वज आचार्यों ने बतलाया है, लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति कराना है । काव्य–प्रदत्त आनन्द को उन्होने 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा है । क्या 'ब्रह्मानन्द सहोदर' की अनुभूति ऐसे काव्य से हो सकती है जिसमे नीति–रहित जीवन का चित्र खीचा गया हो ? इस प्रकार का आनन्द तो उसी काव्य में उपलब्ध हो सकता है जिसमें मानव–जीवन का आदर्शमय लोकोपयोगी भव्य रूप खड़ा

किया गया हो, जिसमे आत्मा को उत्तरोत्तर उच्चता की ओर अग्रसर करने के साधन जुटाए गए हों, जिसमें अनुकरणीय सिद्धान्तो की उद्भावना की गई हो। वही सच्चा काव्य है। काव्य की कसौटी पर वही खरा उतरता है। ऐसे काव्य का रचयिता अपना उद्धार तो करता ही है परन्तु साथ ही साथ समाज का भी उद्धार कर लेता है। जिस कार्य के सम्पादन करने मे सहस्रों उपदेशक कृतकार्य नहीं होते उसको वह अकेला ही पूरा कर लेता है। गोस्वामी तुलसीदास ऐसे ही काव्य-प्रणेता थे। उनके 'रामचरितमानस' मे मानव-जीवन का सर्वोत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। नीति और आदर्श के साथ काव्य का भव्य रूप मन को मुग्ध करनेवाला है। मानस के द्वारा हिन्दू-जाति का कितना उपकार हुआ है यह बतलाना शब्द की शक्ति के बाहर है। यदि गोस्वामीजी अपने काव्य मे आचार और मर्यादा का स्वर्ण-सयोग न करते तो क्या यह उपकार सभव था? काव्य को जीवन और शक्ति प्रदान करने वाला रसायन आचार है।

इस सम्बन्ध में कवि को एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है। आचार-सम्बन्धी सिद्धान्त मानव-जीवन की स्वाभाविकता न छीन ले। ऐसा न हो कि जिन आदर्शों का कवि अपने काव्य मे प्रतिपादन करे उन तक पहुँचना मनुष्य असभव समझे। यदि ऐसा होगा तो काव्य मानव-समाज का कुछ भी हित न कर सकेगा।

इसके अतिरिक्त यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि आचार-शिक्षा काव्य के अन्यान्य उपयोगी एव आवश्यक तत्वों को गौण न बना दे। जो कुछ कहा जाय वह भाव और कल्पना की लपेट मे कहा जाय। जो कुछ कहा जाय वह जीवन की मार्मिक दशाओं का प्रत्यक्षीकरण करते हुए कहा जाय। उसमे शुष्कता अथवा नीरसता न हो। वह हृदय की चुटकी लेता हुआ उसमे प्रवेश कर जाय। इसी में काव्य की सफलता है, इसी में काव्य का महत्व है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि "काव्य का लक्ष्य

जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप मे लाकर सामने रखना है जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत सकुचित घेरे से अपने हृदय को निकाल कर उसे विश्व-व्यापिनी अनुभूति मे लीन करे।" इसके भीतर जीवन के आदर्श भी आ जाते है, क्योकि नीति के आदर्शों के अवलम्बन बिना आत्मा विश्वात्मा मे लीन होने की क्षमता नहीं प्राप्त कर सकती। अतः स्पष्ट है कि काव्य और आचार का नित्य और घनिष्ठ सम्बन्ध है। काव्य को आचार या नीति से अलग नहीं किया जा सकता। हिंदी के कतिपय वर्तमान कवियों को अंधे होकर पश्चिमवालो की नकल नहीं करनी चाहिए। उन्हे केवल पश्चिम की श्रेष्ठ बातो को ही ग्रहण करना चाहिए। इसी मे उनका और हिन्दी-साहित्य का कल्याण है।

विज्ञान की उन्नति से संसार का हित और अहित

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—विज्ञान का विस्तार

(२) विज्ञान की उन्नति से हित—

(क) स्थान की दूरी मे कमी

(ख) समय के अन्तर में कमी

(ग) रोगों की चिकित्सा में सहायता

(घ) मनुष्य की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति

(ङ) मनुष्य की सुख-सामग्री में वृद्धि

(च) जीवन-रक्षा के साधन जुटाना

(छ) मनुष्य का दूरदर्शी होना

(ज) विद्या-प्रचार में योग

(३) विज्ञान की उन्नति से अहित—

(क) जीवन-नष्ट के सरल एवं अनेक साधन जुटाना

(ख) मशीनों के बाहुल्य से बेकारी बढ़ना

(ग) मनुष्य की आवश्यकताओं मे वृद्धि

(घ) मनुष्य का भौतिकवादी होना

(४) उपसंहार—विज्ञान का महत्व

यह विज्ञान का युग है। ससार के कोने-कोने में विज्ञान की दुन्दुभी बज रही है। चारो ओर वैज्ञानिक आविष्कारों तथा अनुसंधानों की धूम मची हुई है। आजकल विज्ञान का बहुत प्रचार है और साथ

ही दिन-दिन अन्यान्य विषयो मे भी उसका प्रवेश होता जा रहा है। इतिहास मे विज्ञान का पर्याप्त प्रवेश हो चुका है। घटनाओं की परीक्षा विज्ञान की कसौटी पर की जाती है। समय का निश्चय भी विज्ञान के नियमो द्वारा किया जाता है। ज्योतिष से ऐतिहासिक समय की जाँच की जाती है। चिकित्सा-क्षेत्र पर भी विज्ञान ने अपना अधिकार जमा लिया है। आजकल ऐक्स–रे द्वारा शरीर की आन्तरिक दशा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यह विज्ञान का ही चमत्कार है। धर्म को भी विज्ञान ने उलट-पुलट दिया है, उसके आडम्बरो की तीव्र आलोचना की है। हम कह सकते है कि आज प्रकृति और मनुष्य समाज दोनों विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत है। प्रकृति और मनुष्य का कोई भी विषय उसकी गति से बाहर नहीं है। भौतिक-विज्ञान और रसायन-विज्ञान तो उसके प्रधान अग हैं। परन्तु दर्शन-शास्त्र और कला भी उससे खाली नहीं है। दर्शन तो विज्ञान का भी विज्ञान कहा जाता है। कला की भी वैज्ञानिक विवेचना होने लगी है। साहित्य-कला मे रस और भावो का विवेचन विज्ञानात्मक हो चला है। साराश यह है कि इस बीसवीं शताब्दी मे विज्ञान ने आशातीत उन्नति करके चारो ओर क्रान्ति उपस्थित कर दी है।

विज्ञान की इस उन्नति से समाज का हित हुआ है या अहित? विज्ञान की इस उन्नति ने समाज के सुख मे वृद्धि की है या कमी? इसमे संदेह नहीं कि ससार को विज्ञान से बहुत लाभ हुए हैं। विज्ञान ने स्थान की दूरी कम कर दी है। रेल, मोटर, जलयान, वायुयान आदि यात्रा के तीव्रगामी साधनो के कारण कोई भी स्थान दूर नहीं रह गया है। इन सबसे भी तीव्रगामी बुलैट है जिसमे बैठकर चन्द्रमा तक पहुँचने की तैयारियाँ हो रही हैं। प्राचीन काल मे जब ये साधन उपलब्ध न थे तब पचास मील के फासले का स्थान इतना दूर प्रतीत होता था जितना आज एक हजार मील दूरी का स्थान भी नहीं प्रतीत होता। आजकल तो विज्ञान के प्रताप से दूर से दूर स्थान भी घर-

आँगन हो गया है। वायुयान बात की बात मे मनुष्य को सैकडो मील दूर ले जाता है। वैज्ञानिक वाहनो ने यात्रा-सम्बन्धी आपत्तियों और कठिनाइयों को दूर कर दिया है। प्राचीन समय मे यात्रा करना एक विकट समस्या थी। लोग पैदल, घोडे पर अथवा बैलगाडी में यात्रा करते थे। मार्ग मे उन्हे लुटेरे लूट लेते थे। वर्षा ऋतु मे नदी नालो के कारण मार्ग बद हो जाते थे। थोड़ी सी दूर पहुँचने मे बहुत समय लग जाता था। धन्य है विज्ञान जिसने यात्रा के लिए अनेक प्रकार के आराम और सुविधाएँ कर दी है।

विज्ञान ने समय के अन्तर को भी कम करने के प्रयत्न किए है। ऐसी ऐसी मशीनो के आविष्कार किए गए है जो क्षण भर मे मनुष्य की अपेक्षा कई गुना काम करती है। सौ मनुष्य जिस काम को एक दिन में करेगे उसे एक मशीन एक घंटे मे कर देती है। समाचारो के पहुँचाने के लिए विज्ञान ने बड़ी अच्छी व्यवस्था की है। इस कार्य में समय के अन्तर को बहुत कम कर दिया गया है। टेलीफोन द्वारा आगरे मे बैठा हुआ मनुष्य न्यूयार्क या लदन मे बैठे हुए मनुष्य से उसी प्रकार बातचीत कर सकता है जैसे अपने निकट बैठे हुए मनुष्य से। एक की आवाज दूसरा सुनता है। समय के व्यतीत होने का पता ही नहीं चलता। रेडियो आदि इसी प्रकार के यत्र हैं जिनके द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक ध्वनि के पहुँचने मे नाम मात्र का समय लगता है। इँगलैण्ड मे भाषण हो रहा है और आगरे मे सुना जा रहा है। इससे और अधिक समय की कमी क्या हो सकती है?

प्राणियो के रोगो की चिकित्सा में विज्ञान ने बहुत सहायता दी है। नित्य नई नई औषधियाँ निकाली जा रही है। विज्ञान द्वारा मानव-शरीर का सूक्ष्म से सूक्ष्म अध्ययन किया गया है। रोगो के कारणो का पता लगाया गया है। इजेक्शन आदि चिकित्सा के नए नए विधान खोजे जा रहे हैं। एक्स-रे ने तो चिकित्सा-क्षेत्रकी काया ही पलट दी है। जिस प्रकार शीशे मे मनुष्य अपना मुख स्पष्टतः देख सकता है

उसी प्रकार एक्स–रे द्वारा उसे अपने शरीर की दशा का ज्ञान भली भाँति हो सकता है। मान लीजिए किसी की कलाई में मोच आ गई है। ऐक्स–रे द्वारा काँच की पटरी पर उसकी कलाई का चित्र ले लीजिए। चित्र में स्पष्टतः प्रकट हो जायगा, कौनसी हड्डी अपने स्थान से हट गई है। ऐक्स–रे के बिना हटी हुई हड्डी का केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। मान लीजिए कोई बच्चा खेलने की छोटी साइकिल निगल गया है। उसकी जान पर आबनी है। ऐक्स–रे से ही साइकिल का अनुसंधान करके बच्चे की प्राण–रक्षा की जा सकती है। इसी प्रकार तपैदिक नामक घातक रोग में फेंफड़ों की स्वस्थता का ठीक निश्चय ऐक्स–रे से ही होता है। चिरकाल का पुराना कोढ़ ऐक्स–रे से मिनटों में दूर हो जाता है। ऑपरेशन के कष्ट को दूर करने के लिए ऐसे-ऐसे रासायनिक पदार्थ निर्मित हुए हैं जिनका रुग्ण अंग पर लेप कर देने से वह अंग सन्न पड़ जाता है और ऑपरेशन होने का पता भी नहीं चलता। वस्तुतः शारीरिक पीड़ा तथा रोग निराकरण के लिए विज्ञान ने सराहनीय कार्य किए हैं।

मनुष्य की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ विज्ञान ने उसकी सुख–सामग्री में भी वृद्धि की है। नित्य–प्रति काम में आने वाली वस्तुओं का सस्ता करने वाला विज्ञान ही है। एक सुई को ले लीजिए। यदि विज्ञान की सहायता न ली जाय और लोहे में से एक सुई बनाई जाय तो क्या वह इतनी सस्ती पड़ सकती है कि पैसे में भी क्रय की जा सके? कभी नहीं। यह विज्ञान का ही प्रसाद है कि पैसे की पचीस सुइयाँ और दियासलाई की चालीस सींकें तक मिल सकती हैं। निब, बटन, कागज, पेंसिल, साबुन, सुई, दियासलाई आदि अनेक वस्तुओं का प्रदानकर्ता विज्ञान है। सुना जाता है, पहले दियासलाई के अभाव में लोग एक प्रकार के पत्थर के टुकड़ों को रगड़ कर अग्नि पैदा करते थे। इस प्रकार से अग्नि प्रकट करना कठिन काम था। अतः लोग अग्नि की बड़ी रक्षा करते थे। आजकल इसकी आवश्यकता नहीं है। कोई

अग्नि के बुझ जाने की चिंता नहीं करता, क्योंकि न तो दियासलाई से अग्नि जलाना ही कठिन होता है और न उसका मूल्य ही अधिक होता है। धनवान मनुष्यों के सुख-साधनों में विज्ञान ने पर्याप्त वृद्धि की है। एक निर्धन मनुष्य भले ही ग्रीष्म-ऋतु में गर्मी के मारे तड़पता रहे पर धनवान मनुष्य के लिए विज्ञान ने बिजली के पंखे का प्रबन्ध कर दिया है। एक दरिद्र भले ही अपने घर में टिमटिमाता हुआ भी दीपक न जला सके पर धनिक के लिए विज्ञान ने जगमगाते हुए बिजली के प्रकाश की व्यवस्था की है। उसके सैर करने के लिए मोटर आदि सवारियों का प्रबन्ध किया है। मुँह की शोभा बढ़ाने के लिए सिगरेट और क्रीम-पाउडर प्रदान किए हैं। आमोद-प्रमोद के लिए तरह-तरह के वाद्य-यंत्रों का निर्माण किया है। हारमोनियम, ग्रामोफोन प्रभृति बाजों का आनन्द धनिक ही ले सकते हैं। घर बैठे हुए संगीत का रसास्वादन रेडियो द्वारा गरीब नहीं कर सकता। यह सौभाग्य भी रुपए वाले को ही मिलता है। सिनेमा अवश्य धनी और निर्धन सब का समान रूप से मनोरंजन और दिल-बहलाव करता है। दिन भर की थकावट मिटाने के लिए गरीबों के लिए सिनेमा से सस्ता और सुलभ मनोरंजन का दूसरा साधन हो ही क्या सकता है?

मनुष्यों के जीवन की रक्षा के लिए भी विज्ञान ने बहुत से आविष्कार किए हैं। प्राचीनकाल में खानों में काम करने वाले मनुष्यों का जीवन हर समय खतरे में रहता था। वे लोग प्रकाश के लिए लैम्पों को खान में ले जाया करते थे। कभी-कभी खान में ऐसी गैस निकल आती थी जो लैम्पों से आग पकड़ कर काम करने वाले समस्त प्राणियों को जला डालती थी। डेवी की सेफ्टी लैम्प के आविष्कार से यह खतरा दूर हो गया। अब सब खानों में यह लैम्प प्रयोग में आती है। घर में भी कभी असावधानी के कारण आग लग जाती है। उसके बुझाने के लिए फाइर-ब्रिगेड नामक यंत्र का निर्माण हुआ है।

कहा जाता है कि सतयुग में योगी दूरदर्शी होते थे। वे घर बैठे

क्योंकि उन दिनो आजकल की सी प्राणघातक मशीनो का निर्माण नही हुआ था। आजकल के युद्धो की भयानकता देख कर तो हृदय काँप उठता है। अत्यन्त खेद का विषय है कि मनुष्यता का राग अलापने वाली मनुष्य–जाति भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ो के ऊपर व्यथ रक्त बहाती हैं। क्या सभ्यता यही पाठ पढाती है कि भाई-भाई का रुधिर पीए? क्या शिक्षा यही सिखाती हैं कि बलवान निर्बल को कुचल दे, उसको ससार से मिटा दे? क्या चीन का रुधिर चूसने वाला जापान किसी हिसक पशु से कम है?

विज्ञान से दूसरा अहित यह हुआ है कि मशीनो के द्वारा क्रियाशीलता के अनन्त गुनी हो जाने के कारण बेकारी बेतरह फेल गई है। एक मशीन सैकड़ो मनुष्यो के बराबर काम करती है। अतः जब से प्रत्येक कार्य–क्षेत्र मे मशीनो का प्रवेश होगया है अगणित मनुष्यो की रोटियाँ छिन गई है। पहिले प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करता था और पर्याप्त जीविका उपार्जन कर लेता था। पर अब मशीनो ने सब उद्योग–धधो को बैठा दिया है। मशीन का बना हुआ माल सस्ता पड़ता है, उसके साथ हाथ का बना हुआ माल प्रतियोगिता में नही ठहर सकता। यही कारण है कि आज घरेलू धधे नष्ट हो गए हैं और बेकारी भीषण रूप धारण किए हुए है। मशीनो के प्रसार से माल की खपत की समस्या भी उपस्थित हो गई है। मशीनें बहुत अधिक माल पैदा करती है। सब की खपत उनके अपने देश मे नहीं हो सकती। तब शेष बचा हुआ माल कहाँ खपाया जाय? यह समस्या सामने आती है। आजकल प्रत्येक देश जहाँ मशीनो का खूब प्रचार है इस समस्या से भुगत रहा है।

विज्ञान से तीसरा अहित यह हुआ है कि उसने मनुष्य की आवश्यकताओ को कई गुनी कर दिया है। मनुष्य की शांति और सुख के लिए यह आवश्यक है कि उसकी आवश्यकताएँ सीमित रहे।

अतः आवश्यकताओ के बढ जाने और उनकी पूर्ति न होने के कारण मावन–समाज आज सुखी नही है ।

विज्ञान से चौथा अहित यह हुआ है कि मानव–समाज भौतिक-वादी (materialist) होगया है, आत्मा भुला दी गई है। विज्ञान ने प्रकृति के चमत्कारों का उद्घाटन करके मनुष्यो को उनमे फँसा दिया है। ससार का रग–रूप इतना आकर्षक होगया है कि मनुष्य उससे आकृष्ट हुए बिना नही रह सकते । बिजली का प्रकाश, बिजली का पखा, मोटर, वायुयान, रेडियो, टेलीफोन, केमरा, टेलीविजन, घड़ी, क्रीम--पाउडर, सिनेमा आदि अनेक वस्तुओ ने ससार के सौन्दर्य मे वृद्धि की है । विज्ञान ने इन्द्रियो के आनन्द के लिए अनेक साधन जुटाए हैं । इससे वे शक्तिशाली एव सजग होगई है । आजकल ससार को देख कर, उसके सुख–साधनो के ससर्ग मे रहकर, मनुष्य का मन ससार मे लिप्त न रहना यदि असभव नहीं तो कठिन अवश्य है । यही कारण है कि विज्ञान से मनुष्य [illegible] की ओर अग्रसर होता जा रहा है । ससार मे मौज उड़ाना और शरीर को आराम देना ही मानव–जीवन का ध्येय हो रहा है । 'Eat, drink and be marry' अर्थात् खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ की ध्वनि से आज ससार गूँज रहा है । यदि कोई आत्मा को उन्नत करने के लिए उपदेश देता है तो उसे कोई नहीं सुनता । उसकी आवाज नक्कारखाने मे तूती की आवाज हो जाती है । लोग कह दिया करते है कि आत्मोन्नति से इस जीवन मे, इस ससार मे तो कुछ लाभ नही दिखाई देता । फिर किसी अनिश्चित लोक के आनन्द की प्राप्ति के लिए इस लोक के सुखो को क्यों मिट्टी मे मिलाया जाय ? परिणाम यह हुआ है कि धर्म के बधन ढीले पड़ गए है । लोग धर्म के विरुद्ध आचरण करते है । वह धर्म जो एक दिन समस्त मानव–जाति पर अधिकार किए हुए था आज पैरो से कुचला जा रहा है । वह धर्म जिसके न मानने से एक दिन मनुष्यो को प्राण दड तक का भागी होना पड़ता था आज उद्दडता से तोड़ा जा रहा है ।

सारांश यह है कि विज्ञान की उन्नति से मानव-समाज का हित भी हुआ है और अहित भी। विज्ञान ने सचमुच संसार को उलट-पुलट दिया है। सत्य की खोज में कारण-कार्य सम्बन्ध द्वारा उसने अनेक बातों को अंधकार से प्रकाश में लाकर मानव-जाति के ज्ञान का विकास किया है। उसने प्रकृति के सूक्ष्मतम क्रियाकलाप को समझने और वशवर्ती बनाने के प्रयत्न किए हैं। संसार की मूलशक्ति की वास्तविकता को समझने की ओर भी कदम बढ़ाया है और सबसे बड़ा काम किया है—सुधार, उद्धार, प्रगति और विकास की रूप-रेखा का विधान।

रहस्यवाद और हिन्दी-कविता

रूप-रेखा:—

(१) प्रस्तावना—रहस्यवाद का लक्षण

(२) हिन्दी-कविता में दो प्रकार का रहस्यवाद

  (क) ज्ञानात्मक रहस्यवाद

  (ख) प्रेमात्मक रहस्यवाद

(३) रहस्यवाद और कबीर

(४) रहस्यवाद और जायसी

(५) रहस्यवाद और मीरा

(६) वर्तमान कविता में रहस्यवाद (छायावाद का प्रचुर्य

(७) प्रसादजी, निरालाजी, महादेवीजी और पंतजी का रहस्यवाद

(८) आधुनिक रहस्यवादी कवियों और प्राचीन रहस्यवादी कवियों में भेद; वर्तमान कवियों को कबीर और जायसी के अनुकरण की आवश्यकता

रहस्यवाद क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। रहस्यवाद हृदय का विषय है। शब्दो मे ठीक-ठीक उसका लक्षण निर्धारित नही किया जा सकता। जिस प्रकार प्राचीन काल से आधुनिक काल तक आचार्यो ने कविता के भिन्न-भिन्न लक्षण बताए है उसी प्रकार रहस्य-वाद के भी रूप का नाना प्रकार से विवेचन हुआ है। कविता की तरह रहस्यवाद का भी अनुभव ही किया जा सकता है, निरूपण नही। स्थूल

रूप से हम कह सकते हैं कि रहस्यवाद एक आध्यात्मिक वस्तु है जिसका सम्बन्ध हृदय से है। ज्ञान भी आध्यात्मिक वस्तु है पर उसका सम्बन्ध मस्तिष्क से है। "जो चिंतन के क्षेत्र में अद्वैतवाद है वही भावना के क्षेत्र मे रहस्यवाद है।" अद्वैतवादी मनुष्य जब भावना-रंजित प्रतीकात्मक उक्ति से अपने और अखंड परोक्ष सत्ता के सम्बन्ध को अथवा जगत के नाना रूपो और विश्वात्मा के सम्बन्ध को प्रकट करता है तब उस उक्ति को रहस्यवाद कहते है। वह जो कुछ देखता है या सुनता है उसमे उसी अज्ञात शक्ति का आभास पाता है। वह पुष्पों में उस शक्ति को हँसता हुआ देखता है, सायंकालीन रक्तिम वर्ण के मेघों में उसके अनुराग की लालिमा देखता है, बिजली की कड़क में उसके क्रोध का परिचय पाता है और नीलाकाश में उसके रूप का दर्शन करता है। इस प्रकार जगत की प्रत्येक वस्तु और व्यापार का सम्बन्ध वह उसी शक्ति से जोडता है।

हिंदी-कविता मे हमें दो प्रकार का रहस्यवाद देखने को मिला है। एक है ज्ञानात्मक रहस्यवाद और दूसरा है प्रेमात्मक रहस्यवाद। ज्ञानात्मक रहस्यवाद मे माया, जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध बतलाया गया है। प्रेमात्मक रहस्यवाद में ईश्वर और जीव की 'माधुर्य भावना' का चित्र खींचा गया है। दार्शनिकों ने परमात्मा को पुरुष और जगत को स्त्री-रूप कहा है। 'माधुर्य भावना' इसी का भावुक रूप है, जिसमें परमात्मा की प्रियतम के रूप मे भावना की जाती है और जगत के नाना रूप स्त्री-रूप में देखे जाते हैं। सूफी मुसलमानों के यहाँ इस माधुर्य भावना ने उल्टा रूप धारण किया है। सूफी दार्शनिक परमात्मा को प्रियतमा के रूप मे देखते है और अपने को या जीव को उसके प्रियतम-रूप मे।

ज्ञानात्मक रहस्यवाद के क्षेत्र में कबीर का बहुत ऊँचा स्थान है। अन्योक्ति का आधार लेकर उन्होने बड़े सुंदर ढंग से माया, जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध दिखलाया है। एक स्थान पर वे कहते हैं—

जल मे कुम्भ, कुम्भ मे जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तत कथौ गियानी॥

कबीर की यह उक्ति ऊपर से कितनी सीधी-सादी मालूम पड़ती है, परन्तु इसमे गूढ दार्शनिक तत्व अन्तर्निहित है। यहाँ घड़े के पानी से अभिप्राय जीवात्मा और घड़े के बाहर के पानी से अभिप्राय परमात्मा है। घडे का पानी घड़े के बाहर के पानी से किसी प्रकार भिन्न नहीं। पर घड़े की पतली चद्दर रूपी माया दोनो को मिलकर एक नहीं होने देती। जब वह चद्दर टूट कर अलग हो जाती है तब वे दोनो जल-भाग मिलकर एक हो जाते है। इसी प्रकार माया के हट जाने से जीवात्मा और परमात्मा का एकीकरण हो जाता है। कितने अच्छे ढंग से जीवात्मा, माया और परमात्मा का नाता समझाया गया है! इस प्रकार की अनेक अन्योक्तियाँ कबीर के काव्य में भरो पड़ी है। देखिए—

जल मे उतपति जल मे बास।
जल मे नलिनी तोर निबास॥

यहाँ पर 'जल' परमात्मा का प्रतीक है और 'नलिनी' जीवात्मा का।

'औधा घड़ा न जल मे डूबे, सूधा सूभर भरिया'

इस अन्योक्ति द्वारा यह समझाया गया है कि जिस प्रकार घड़ा औधा रहते हुए जल में नहीं डूबता उसी प्रकार मनुष्य ससार में विमुख रहते हुए कभी माया में नही पड़ सकता। जैसे घड़ा सीधा होने पर जल से भर कर डूब जाता है वैसे ही मनुष्य ससार में लिप्त होकर माया मे फँस जाता है।

प्रेमात्मक रहस्यवाद के क्षेत्र में भी कबीर का नाम प्रसिद्ध है। वे ईश्वर को पति और अपने को उसकी पत्नी मानकर रहस्यवादी उक्तियाँ कहते थे। उन्होने एक स्थान पर कहा है—

हरि मोर पिउ, मैं राम की बहुरिया।

'राम की बहुरिया' प्रियतम से मिलने को बड़ी उत्कठित है! देखिए—

जैसे जल बिन मीन तलपै।
ऐसे हरि बिन मेरा जियरा कलपै ॥

+ + +

वे कब आवेंगे माइ।
जा कारन हम देह धरी है मिलिबौ अग लगाइ ॥

+ + ×

सब कोई कहै तुम्हारी नारी हमको यह सन्देह रे।
एक मेक ह्वै सेज न सोवे तब लगि कैसो नेह रे ॥

प्रेमात्मक रहस्यवाद के क्षेत्र मे जायसी का स्थान सर्वोच्च है। वैसे तो सभी सूफी कवियों ने इस प्रकार के रहस्यवाद की बड़ी मधुर उक्तियाँ कहीं हैं, किन्तु जायसी की समानता कोइ नही कर सका है। जायसी की उक्तियाँ अत्यन्त हृदयग्राही हैं। इस उक्ति को देखिए—

पिउ हिरदय मे भेंट न होई।
को रे मिलाव कहौं केहि रोई।

इससे कवि की कितनी निराशा और वेदना प्रकट होती है।

एक स्थान पर कवि रवि, शशि, नक्षत्र, कमल, नीर हंस आदि में अपनी प्रियतमा की सौन्दर्य-ज्योति की छटा देखता हुआ कहता है—

रवि, ससि नखत दिपहि ओहि जोती।
रतन पदारथ, मानिक मोती ॥
जहँ जहँ बिहँस सुभावहि हँसी।
तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी ॥

+ + + +

नयन जो देखा कवँल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हस भा, दसन–जोति नग हीर ॥

इस प्रियतमा के प्रेम से सारी दुनिया बिधी हुई है—

उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा।
बेधि रहा सगरौ ससारा ॥

गगन नखत, जो जाहि ने गने ।
वै सब बान ओहि के पने ॥

मीराबाई की भी उपासना 'माधुर्य भावना' की थी। वे कृष्णजी को अपना प्रियतम मानती थीं। अतः उनको भी प्रेमात्मक रहस्यवाद के अन्दर रक्खा जा सकता है। वे कहती फिरती थीं—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई ।
जाके सिर मोर-मुकुट मेरो पति सोई ॥

उनकी वियोग-पीर श्रीकृष्ण रूपी वैद्य ही दूर कर सकते थे—उन्होंने कहा है—

दरद की मारी बन-बन डोलूॅ बैद मिल्या नहिं कोय ।
मीराॅ की प्रभु पीर मिटैगी, जब बैद सॅवलिया होय ॥

वर्तमान काल में आकर रहस्यवाद की धारा ने पृथुल रूप धारण किया है। प्राचीन काल में उसकी धारा क्षीण थी और वह भी कभी कभी रुक जाती थी। आजकल अधिकाश नवयुवक कवि रहस्यवादी या छायावादी होने के ढोंग रच रहे हैं। अधिकाश नवयुवक कवि क्षितिज के पार कुछ धुॅधले चित्र देखते है। अधिकांश नवयुवक कवि अनन्त मे लीन होने के स्वाँग करते हैं। आजकल उसी कविता को लोग छाया-वादी कहने लगते हैं जिसका भाव स्पष्ट न हो। यही छायावाद की कसौटी है। कहने का अभिप्राय यह नही है कि हिंदी मे आजकल सच्चा रहस्यवादी कवि कोई है ही नहीं। पर इसमे सदेह नहीं कि वर्तमान हिन्दी-कविता मे झूठे रहस्यवादियों की बाढ़ सी आगई है। वर्तमान युग के रहस्यवाद मे पाश्चात्य और बगाली प्रभाव बहुत देखा जाता है। हम कहना चाहे तो यों कह सकते हैं कि आधुनिक हिन्दी छायावाद या रहस्यवाद बॅगला द्वारा अॅगरेजी के रहस्यवाद की नकल है। आजकल के प्रमुख रहस्यवादी कवि श्री जयशकर 'प्रसाद', प० सूर्यकान्त 'निराला', प० सुमित्रानदन पत और श्रीमती महादेवी वर्मा हैं।

'प्रसादजी' की कविता का मुख्य विषय प्रेम है। इन्होंने भी मीरा

के समान 'माधुर्य भावना' का आश्रय लिया है। देखिए प्रियतम के विरह मे जीवात्मा कैसी विकल है—

भरा नैनो मे मन मे रूप।
किसी छलिया का अमल अनूप ॥
जल-थल, मारुत व्योम मे जो छाया है सब ओर।
खोज खोजकर खोगई मै, पागल प्रेम विभोर ॥

निराला जी ने भी परोक्ष सत्ता को प्रेम का आलबन बनाया है। वे कहते है—

एक दिन थम जायगा रोदन,
तुम्हारे प्रेम-अचल मे।

पतजी का रहस्यवाद सूफियो के रहस्यवाद के 'प्रेम की पीर' से प्रभावित है। उसमे वियोग-वेदना और निराशा की प्रधानता है। वे सारे विश्व मे विरह-वेदना के ही दर्शन करते है—

गगन के उर मे घाव,
देखती ताराएँ भी राह।
बँधा विद्युत छवि में जल वाह,
चन्द्र की चितवन मे भी चाह ॥

महादेवीजी की रचनाओ मे भी नैराश्य और दुःखवाद का साम्राज्य रहता है। इन्हे भी विरह सतत करता रहता है। इनका रहस्यवाद भी सूफियो के रहस्यवाद की प्रवृत्तियो से ओत-प्रोत देखा जाता है। देखिए एक स्थान पर ये अज्ञात शक्ति को एक नर्तकी के रूप मे देखती हुई क्या कहती है—

आलोक तिमिर सित असित चीर।
सागर-गर्जन रुनझुन मँजीर ॥
उड़ता झंझा मे अलकजाल।
मेघो में मुखरित किंकिणि-स्वर ॥

पर वर्तमान काल में सच्चे रहस्यवादी कवि थोड़े है। प्राचीन काल

मे मीरा, जायसी और कबीर ने जैसी रहस्यमयी मधुर उक्तियाँ कही थीं वैसी उक्तियाँ वर्तमान कवियों की नही हैं। कबीर, जायसी और मीरा की भक्ति-भावनाओं के साथ उनके जीवन का पूरा सामजस्य था। आजकल के कवियो मे यह विशेषता नही पाई जाती। यही कारण है कि उनकी रहस्यवादी उक्तियो में वैसी भावुकता नही मिलती। कभी कभी तो वे कल्पना-प्रसूत सी प्रतीत होती हैं। यदि आजकल के होनहार कवि रहस्यवाद के लिए कबीर या जायसी को अपना आदर्श मानें तो उन्हे इस कार्य मे पर्याप्त सफलता मिल सकती है। जब श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर सरीखे विश्व-कवि कबीर के रहस्यवाद से प्रभावित हुए हैं और उसका अनुकरण करते हैं तब हिन्दी के कवियो को विदेशी दरवाजा खटखटाने की क्या आवश्यकता है।

शिक्षा का जीवन पर प्रभाव

रूप-रेखा —

(१) प्रस्तावना—शिक्षा का उद्देश्य—
(२) शिक्षा द्वारा शारीरिक विकास
(३) शिक्षा द्वारा मानसिक विकास
(४) शिक्षा द्वारा आत्मिक उन्नति
(५) शिक्षा से ज्ञान-प्राप्ति
(६) शिक्षा और सामाजिक जीवन
(७) शिक्षा और रोटी की समस्या
(८) उपसंहार—शिक्षा और जीवन का सम्बन्ध

हरबर्ट स्पेंसर नामक एक अँगरेज विद्वान ने कहा है—To prepare us for complete living is the function which education has to discharge अर्थात् शिक्षा का उद्देश्य हमे पूर्ण जीवन के लिए तैयार करना है। सचमुच शिक्षा मनुष्य को जीवन-संग्राम के लिए तैयार करती है। वह मनुष्य की सोई हुई शक्तियो को जाग्रत करके उनका विकास करती है। मनुष्य मे ईश्वर-प्रदत्त तीन प्रधान शक्तियाँ है—शारीरिक शक्ति, मस्तिष्क शक्ति और आत्मिक शक्ति। इन तीनो शक्तियों के विकास मे ही जीवन का साफल्य है। इन तीनों में से हम किसी की भी अवहेलना नहीं कर सकते। जीवन में पद-पद पर इन तीनों की आवश्यकता पड़ती है।

पहले शरीर को लीजिए। जिस मनुष्य का शरीर स्वस्थ नहीं,

जो मनुष्य नीरोग नही, वह जीवन में क्या कार्य कर सकता है ? उसके लिए तो जीवन भार स्वरूप है। जीवन को सुखमय बनाने के लिए शरीर की रक्षा एव व्यायाम नितान्त आवश्यक हैं। शिक्षा विद्यार्थियों के शरीर को पुष्ट तथा सबल बनाती है। ऐसा कोई भी शिक्षा-केंद्र नही है जो पढ़नेवालो के लिए व्यायाम का प्रबन्ध न करे। प्रत्येक विद्यालय मे विद्यार्थियो के लिए खेल-कूद की व्यवस्था होती है। उनको तरह-तरह के खेल खिलाए जाते हैं। वे अपनी-अपनी रुचि के अनुसार खेल चुन लेते ह। कोई हॉकी खेलना पसन्द करता है तो कोई क्रिकेट। कोई फुटबॉल खेलने मे रुचि रखता है तो कोई वौलीबॉल मे। किसी को टैनिस खेलने से प्रेम होता है तो किसी को बैडमिटन से। किसी को जिमनास्टिक के खेल अच्छे लगते हैं तो किसी को कूदना, दौड़ना आदि खेल। कुछ ऐसे भी विद्यार्थी होते है जिन्हे खेल-कूद से घृणा होती है। वे कभी कोई खेल नही खेलना चाहते ; उनको खेलो में भाग लेने के लिए बाध्य किया जाता है। यदि वे खेलो मे भाग नही लेते तो उन्हे दड का भागी होना पड़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यायाम को शिक्षा का अग बना दिया गया है। व्यायाम के अतिरिक्त शिक्षा शारीरिक संयम भी सिखाती है। स्कूलों और कालेजो मे नियमित जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी जाती है। शिक्षित लोग प्रत्येक कार्य को नियत समय पर करते है। यदि वे सोकर जगेंगे तो नियत समय पर जगेंगे। यदि वे भोजन करेंगे तो नियत समय पर करेंगे। यदि वे पढ़ेंगे तो नियत समय पर पढ़ेंगे। यदि वे आमोद-प्रमोद मे भाग लेंगे तो नियत समय पर लेंगे। यदि वे सोएँगे तो नियत समय पर सोएँगे। इस प्रकार का नियमबद्ध जीवन व्यतीत करने से शारीरिक अग सुचारु रूप से अपने कार्य करते हैं और स्वस्थ बने रहते हैं। अनियमित जीवन से शरीर को बड़ी हानि होती है। प्रकृति अनियमित रूप से रहनेवालो को दड दिए बिना नही मानती। उनके शरीर को दंड भोगना ही पड़ता है।

शिक्षा मानसिक विकास करती है, मस्तिष्क की शक्तियो को सशक्त बनाती है। यह वह साधन है जिसके द्वारा मस्तिष्क प्रौढ़ता प्राप्त करता है। जीवन में प्रौढ मस्तिष्क व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण करता है। जीवन की समस्याओं को हल करने के लिए उसकी बड़ी आवश्यकता होती है। वह मनुष्य को आनन्द और शाति प्रदान करता है। वह किसी बात को ठीक तरह से सोच सकता है और समझ भी सकता है। वही कडे-से-कड़े प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ता है। वही कठिन-से-कठिन परिस्थिति मे, दुःख—पूर्ण वातावरण में, सच्चे मित्र की भाँति सहायता करता है। उसी के द्वारा संसार अज्ञान के अधकार से बाहर निकलता है। वही सत्य का अन्वेषण करता है।

जीवन मे शरीर और मस्तिष्क से भी बढ़कर आत्मा का महत्व है। जिसमें आत्मिक बल होता है वह स्वावलम्बी तथा स्वाधीन होता है। प्रत्येक दशा में, प्रत्येक परिस्थिति मे, वह अपना मार्ग आप निकालता है। उसे किसी के आश्रित रहना रुचिकर नही होता। महात्मा कुंभन-दास के पद—

सतन को कहा सीकरी सो काम ?
आवत जात पनहियाँ टूटीं, बिसरि गयो हरि नाम ॥
जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम ॥

से इसी चित्त—वृत्ति का आभास मिलता है। ठीक है, संत को ससार की किसी वस्तु से प्रयोजन ही क्या ? वह तो अपने उपास्यदेव के प्रेम में मग्न रह कर ससार में स्वतंत्र जीवन व्यतीत करता है। आत्मिक बल से एक भिखारी भी राजाओ के हृदय पर अधिकार स्थापित कर सकता है। महात्मा गाधी को ही देखिए। यदि कोई ऐसी वस्तु है जिसने उनको संसार भर में पूज्य बनाया है, जिसने उनको पर्णकुटी से लेकर राज-प्रासाद तक प्रतिष्ठित किया है, जिसने उनको इतना ऊँचा चढ़ाया है, तो वह उनकी आत्मिक शक्ति है। आत्मिक शक्ति द्वारा मनुष्य इस लोक

और परलोक दोनो मे आनन्दित रहता है। वास्तव में जीवन की सफलता आत्मा के उत्तरोत्तर विकास मे है। आत्मा के विकास मे, आत्मा के सस्कार मे, आचरण महत्वपूर्ण योग देता है। वस्तुतः आत्म-विकास रूपी विशाल वृक्ष का बीज आचरण है। आचरण के खो देने पर जीवन मे कुछ भी नहीं रह जाता। किसी विद्वान् ने कहा भी है—

When wealth is lost nothing is lost ,
When health is lost something is lost,
When character is lost everything is lost.

अर्थात् धन के नष्ट होने पर कुछ भी नष्ट नहीं होता, स्वास्थ्य के नष्ट होने पर कुछ नष्ट होता है और आचरण के नष्ट हो जाने पर सब कुछ नष्ट हो जाता है। शिक्षा मानव-हृदय मे आचरण रूपी बीज वपन करती है। बालक एक कच्चे घड़े के समान होता है। जिस प्रकार कच्चे घड़े पर जो लकीर बना दी जाती है वह पक जाने पर उससे नहीं मिट सकती, उसी प्रकार बालक को जैसी भली या बुरी बातें सिखा दी जाती हैं वे आजन्म उसकी सगिनी रहती हैं। शिक्षा बालक को आचरण का पाठ पढ़ाती है। वह बतलाती है कि उसे अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिए, बड़ो का आदर करना चाहिए, भाई-बहिनो से स्नेह करना चाहिए, सत्य बोलना चाहिए और जीवों पर दया करनी चाहिए। इसी प्रकार की अन्य अनेक आचरण-सम्बन्धी बातो का विधान पाठ्य पुस्तकों मे किया जाता है। जब बालक बड़ा होता है तब शिक्षा द्वारा प्रदान की हुई यह सम्पत्ति लेकर वह ससार में प्रवेश करता है।

शिक्षा से मनुष्य को ज्ञान-प्राप्ति होती है। विद्यालय में विविध विषयो के अध्ययन से वह अनेक बातें सीखता है। पुस्तको को पढ़कर बड़े-बड़े विद्वानो के विचारों को जान जाता है और संसार के प्राचीन महान् पुरुषों के सत्संग का लाभ उठाता है। स्थान अथवा समय उसको कोई बाधा नही पहुँचाता। वह इंगलैण्ड के विद्वानों से वैसा ही परिचय रख

सकता है जैसा कि भारतवर्ष के विद्वान् से। वह वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, सूर और तुलसी से वैसे ही बातचीत कर सकता है जैसे अपने समय के किसी विद्वान से। जीवन--यात्रा मे ससार की समस्त प्राचीन और नवीन महान आत्माएँ उसको सहायता प्रदान करती हैं। उनकी उक्तियो से उसको शान्ति मिलती है और लोक-व्यवहार का अनुभव प्राप्त होता है। जीवन मे बहुत से ऐसे अवसर आते हैं जब उसका जी टूट जाता है, शक्तियाँ शिथिल पड जाती हैं और चारो ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई देने लगता है। उन अवसरो पर ये पंक्तियाँ उसे शान्ति दिए बिना नही रह सकतीं—

हारिए न हिम्मत, बिसारिए न हरि नाम,
जाही बिधि राखै राम, ताही विधि रहिए।

जब उसे कष्ट भोगना पड़ता है तो गोस्वामी तुलसीदास का यह वचन—

कोउ न काहु दुख सुख कर दाता। निजकृत कर्म भोग सब भ्राता॥

उसके दुःख को हलका कर देता है।

गिरधर कविराय की यह कुंडलिया उसको लोक-व्यवहार का उपदेश देती है—

रहिए लटपट काटि दिन बरु घामहिं मे सोय।
छाँह न वाकी बैठिए जो तरु पतरो होय॥
जो तरु पतरो होय एक दिन धोखा दैहै।
जा दिन बहै बयारि टूटि तब जर से जैहै॥
कह गिरधर कविराय छाँह मोटे की गहिए।
पाता सब झरि जाय तऊ छाया मे रहिए॥

शिक्षा सामाजिक जीवन पर अधिक प्रभाव डालती है। शिक्षित मनुष्य सामाजिक कुरीतियो और रूढ़ियो का खंडन करते हैं। वे सुधारों के भक्त होते है। अतः शिक्षा से समाज मे उलट फेर होते रहते हैं। प्रायः देखा जाता है कि जिन देशो में शिक्षा का अधिक प्रचार

नही है वे पुरानी लकीर के फकीर बने हुए है। भारतवर्ष को ही ले लीजिए। शिक्षा की कमी के कारण यहाँ के निवासी प्राचीन रीति-रिवाजो के, प्राचीन रूढ़ियो के, भक्त हैं। वे सुधारो से दूर भागते हैं। हाँ, इधर कुछ दिनों से शिक्षा-प्रचार के साथ नवयुवको मे कुछ जाग्रति दिखाई देने लगी है। जो देश पूर्णतः शिक्षित है उनमे सभी क्षेत्रो मे क्रान्ति मची हुई है, उनमे आज महान रूपान्तर देखा जाता है। जापान को ही ले लीजिए। पचीस वर्षो मे जापान की काया पलट गई है। क्यो? शिक्षा के प्रसार के कारण। वहाँ की स्त्रियाँ अब पहले की भाँति घर की चहारै-दीवारी मे बन्द नहीं हैं। वे पुरुषो के साथ कधे से कधा भिड़ाकर कार्य करती हैं। अनेक अहितकर प्रथाओ को भी जापानवालो ने अपने यहाँ से हटा दिया है। इस प्रकार शिक्षा जीवन मे परिवर्तन करती हुई देश और समाज की उन्नति करती है। शिक्षा से सभ्यता भी आगे बढ़ती है।

पर क्या रोटी की समस्या जो जीवन की सबसे बड़ी और आवश्यक समस्या है शिक्षा द्वारा हल होती है? क्या जीविका के उपार्जन में शिक्षा कुछ सहायता देती है? क्या शिक्षा जो मस्तिष्क और हृदय को आहार देती है पेट की ज्वाला की शान्ति का भी कुछ प्रबन्ध करती है? अवश्य। सच्ची शिक्षा जहाँ मस्तिष्क और हृदय की भूख को मिटाती है वहाँ पेट की क्षुधा-निवृत्ति भी करती है। वास्तव मे ऐसी शिक्षा से क्या लाभ जो विद्यार्थी को अनेक विषयो का ज्ञान तो करा दे, किन्तु उसकी सब से बड़ी आवश्यकता—जीविका—की पूर्ति के लिए उसे योग्य न बनावे? ऐसी शिक्षा सच्ची शिक्षा नही कहला सकती। कुछ विद्वानो का मत है कि शिक्षा और जीविका मे कोई सम्बन्ध नही होना चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य रोटी का प्रबन्ध करना नहीं, वरन् मनुष्य की शक्तियो का विकास है। कहना न होगा कि इस मत ने न जाने कितने नवयुवकों के जीवन को मिट्टी में मिलाया है, न जाने कितने मनुष्यों के जीवन-वृक्ष पर कुठाराघात किया है। भारतवर्ष

इसका ज्वलत उदाहरण है। यहाँ के निवासी इस रोग से पीड़ित होकर बेतरह कराह रहे हैं। उनको शिक्षा ने मस्तिष्क, आत्मा और शरीर का बल तो दिया है सही, पर नही दी है एक वस्तु—जीविका। इसी के अभाव से देश मे हलचल पैदा हो गई है। जापान आदि उन्नत देशों की शिक्षा ने विद्यार्थियो के लिए कुछ-न-कुछ उद्योग-धधे सिखाने की व्यवस्था की है जिससे वहाँ के निवासियों को रोटी के लिए इधर-उधर मारे मारे नही भटकना पड़ता। वे लोग सीखे हुए उद्योग से अपना उदर-पोषण करते हैं। हर्ष का विषय है कि अब महात्मा गाधी ने बेसिक-शिक्षा-पद्धति का सूत्रपात किया है जिसमे शिल्प-शिक्षण का स्थान प्रधान है।

साराश यह है कि शिक्षा मनुष्य को सब प्रकार से जीवन-यात्रा के लिए तैयार करती है। मनुष्य के शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक विकास के साथ-साथ वह उसके जीविकोपार्जन के साधनों का भी विधान करती है। शिक्षा का जीवन से अटूट सम्बन्ध है और वह उसको सदैव प्रभावित करती रहती है।

हिन्दी-गद्य का विकास

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—साहित्य में गद्य से पूर्व पद्य का विकास

(२) गोरखनाथजी से हिन्दी-गद्य का आरम्भ

(३) गोकुलनाथजी और हिन्दी-गद्य

(४) विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी की गद्य-रचनाएँ

(५) विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी और हिन्दी-गद्य-लेखक

(क) मुँशी सदासुखलाल

(ख) इंशा अल्ला खाँ

(ग) लल्लूजीलाल

(घ) सदलमिश्र

(६) ईसाइयों की हिन्दी-गद्य-सेवा

(७) राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा गद्य का उत्थान

(८) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा गद्य के विविध अंगों की पूर्ति

(९) महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा गद्य-संस्कार और द्विवेदी-युग मे गद्य की उन्नति

(१०) वर्तमान काल में हिन्दी-गद्य के विकास का विशद रूप

(क) नाटक

(ख) उपन्यास

(ग) निबन्ध

(घ) आख्यायिका

(११) उपसंहार—सारांश

वैसे तो मनुष्य नित्य के व्यवहार मे गद्य का प्रयोग करता हुआ देखा जाता है पर प्रत्येक जाति के साहित्य में गद्य के पूर्व पद्य का ही विकास पाया गया है। हिन्दी-साहित्य का आरम्भ ईसा की ११ वीं शताब्दी से हुआ है। उसकी सभी प्रारम्भिक रचनाएँ पद्य में हैं जो रासो के नाम से विख्यात हैं। जैसे खुमानरासो, बीसलदेवरासो, पृथ्वीराजरासो इत्यादि। हिन्दी मे गद्य का जन्म और विकास तो बहुत पीछे हुआ है।

सबसे प्राचीन गद्य का नमूना गोरखनाथजी के ग्रन्थो में मिलता है। हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि विषयो पर गोरखनाथजी के नाम के कई गद्य-पद्य ग्रन्थ मिले हैं जिनका निर्माण-काल स० १४०७ के आस-पास है। वास्तव मे उनमे से कितने ग्रन्थ सचमुच गोरखनाथजी की लेखनी से प्रसूत हुए हैं यह बतलाना टेढी खीर है, क्योंकि उनके शिष्यो मे से बहुतो ने अपनी रचनाओ पर गोरखनाथजी का नाम दे दिया है पर कुछ विद्वान 'गोरख की बानी' 'गोरखनाथ के पद' आदि को स्वयं गोरखनाथ की रचना मानते हैं। गोरखनाथजी का गद्य ब्रजभाषा में लिखा गया है जिसका नमूना यह है—

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दडवत है। है कैसे परमानद, आनन्द-स्वरूप है शरीर जिन्हि को, जिन्हि के नित्य गाए ते शरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है।"

इनके उपरान्त लगभग ढाई सौ वर्ष तक ब्रज-भाषा के गद्य का कोई नमूना नहीं मिलता। विक्रम की सत्रहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे 'चौरासी वैष्णवो की वार्त्ता' और 'दो सौ बावन बैष्णवो की वार्त्ता' नामक ग्रन्थ गोकुलनाथजी के लिखे मिलते हैं जिनमे लेखक ने बैष्णव भक्तों की कथाएँ लिखी हैं। इनके पश्चात ब्रजभाषा गद्य में कोई रचना नही हुई। गद्य लिखने की परिपाटी का प्रचार न होने के कारण वह जहाँ का तहाँ रह गया। केवल काव्यो की टीकाओ के रूप मे वह जहाँ तहाँ दिखलाई देने लगा।

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी मे ही खड़ी बोली मे गद्य का रूप दिखलाई देने लगा था । अकबर के समय मे गग कवि ने 'चन्द छुन्द बरनन की महिमा' नामक एक पुस्तक खड़ी बोली के गद्य में लिखी। इसके पश्चात स० १६८० मे जटमल ने गोरा बादल की कथा लिखी। जटमल के बाद करीब दो सौ वर्ष तक खड़ी बोली का गद्य क्षेत्र सूना पडा रहा । विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी मे जाकर पुन. उसकी प्रतिष्ठा हुई और उस समय से आज तक नियमित रूप से खडी बोली का गद्य विकसित होता चला आ रहा है । प्रतिष्ठा करनेवाले थे चार सज्जन (१) मुशी सदासुखलाल (२) इशाअल्लाखाँ (३) लल्लूलाल और (४) सदलमिश्र ।

मुशी सदासुखलाल ने [illegible] का अनुवाद 'सुखसागर' नाम से खड़ी बोली मे किया । उन्होने भाषा का रूप सस्कृत-मिश्रित रक्खा जिसमे पडिताऊपन भी था । इशाअल्लाखाँ 'रानी केतकी की कहानी' नामक खडी बोली की मौलिक रचना लेकर उपस्थित हुए। उन्होने चटकीली, मटकीली और मुहावरेदार भाषा मे बडे अच्छे ढग से कहानी कही है । उन्होने अपनी भाषा को अरबी-फारसी तथा व्रजभाषा और अवधी से सुरक्षित रखने की प्रतिज्ञा की जिसका बहुत कुछ निर्वाह वे कर सके । हाँ, कही-कही उनका वाक्य-विन्यास अवश्य फारसी का सा हो गया है । गद्य के प्रारम्भिक लेखक होने के कारण उनकी भाषा में पद्य के समान सानुप्रास विरामो की भरमार है । लल्लूलाल और सदल-मिश्र ने कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज मे अँगरेजों की प्रेरणा से खड़ी बोली-गद्य में रचानाएँ की। लल्लूलाल ने भागवत के दशम स्कंध की कथा का वर्णन 'प्रेमसागर' नामक ग्रथ में किया और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा । 'प्रेमसागर' की भाषा मे व्रज भाषा का पुट और पडिताऊपन बहुत पाया जाता है । उसमें अरबी-फारसी के शब्दो को बहुत बचाया गया है । इशा की तरह उसमे सानु-प्रास विरामो की भी प्रचुरता है । 'नासिकेतोपाख्यान' की भाषा में व्रज

भाषा की झलक के साथ साथ पूरबी भाषा का पुट अधिक है। उसमें 'बौरी' को 'बौड़ी' लिखना बिहारवालो की प्रवृत्ति का निदर्शन है।

खड़ी बोली-गद्य के इन चार प्रारम्भिक लेखकों में से किसी की भाषा को हम साफ-सुथरी नहीं पाते। किसी मे पडिताऊपन है तो किसी में फारसीपन। किसी में ब्रजभाषापन है तो किसी मे पूर्वीपन। तो भी मुशी सदासुखलाल की भाषा अपेक्षाकृत व्यवहारोपयोगी है। इन लेखको के पश्चात सवत् १९१५ तक गद्य-क्षेत्र पुनः सूना सा हो गया। पर ईसाई धर्म-प्रचारको द्वारा गद्य का प्रसार और विकास कुछ-न-कुछ होता रहा। उन्होने बाइबिल के अनुवाद और खडन-मडन की पुस्तके शुद्ध खड़ी बोली-गद्य मे लिखीं। कहीं भी उन्होंने फारसी-अरबी के शब्दो को नही अपनाया। शिक्षा सम्बन्धिनी पुस्तके पहले पहल तैयार करने का गौरव भी उन्हीं को है। हिन्दी भाषा-भाषी उनके इस कार्य को कभी नही भूल सकते।

सबत् १९११ मे चार्ल्स वुड (Charles Wood) ने एक आयोजन-पत्र तैयार किया जिसमे शिक्षा के प्रचार के लिए गाँवो और कस्बो में देशी स्कूल खोलने की योजना की गई। जब उस आयोजन-पत्र के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था हुई तो भाषा का प्रश्न सब से पहले उपस्थित हुआ। शिक्षा की भाषा हिन्दी रक्खी जाय या उर्दू ? उसी समय राजा शिवप्रसाद सं० १९१३ मे शिक्षा-विभाग में इस्पेक्टर नियुक्त हुए। उनके सतत प्रयत्न से हिन्दी को शिक्षा-विधान में स्थान मिला क्योंकि देश की असली भाषा तो वही थी। राजा साहब ने हिन्दी की रक्षा के लिए यह आवश्यक समझा कि उसका 'आम-फहम' और 'खास-पसद' रूप रक्खा जाय जिसमे अरबी-फारसी के चलते शब्द भी स्थान पावें। मुसलमान और उर्दू पढे हुए लोग हिन्दी को 'मुश्किल जबान' कहकर उसका विरोध करते थे। अतः राजा साहब को यह युक्ति चलनी पड़ी। उन्होंने स्वय कोर्स के लिए 'राजा भोज का सपना' 'वीरसिंह का वृतान्त' 'आलसियों का कोडा' आदि कई पुस्तके चलती हिन्दी में लिखी। पीछे

चलकर वे अँगरेज अधिकारियो की रुचि को देखकर उर्दू की ओर अधिक झुक गए। उनका 'इतिहास तिमिरनाशक' इसका उदाहरण है।

खड़ी बोली के गद्य के विकास मे राजा लक्ष्मणसिह का महत्व-पूर्ण स्थान है। उन्होने गद्य–क्षेत्र मे अवतीर्ण होकर राजा शिवप्रसाद के विरुद्ध आवाज उठाई। वे विशुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे। उन्होने कालिदास के सुप्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान-शाकुंतल' का अनुवाद विशुद्ध हिन्दी मे किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी गद्य के विकास में बहुत हाथ बटाया। उन्होंने अपनी धार्मिक पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना खड़ी बोली–गद्य मे की। वे अपने उपदेश खड़ी बोली के गद्य में ही दिया करते थे। उनके पश्चात खड़ी बोली–गद्य के क्षेत्र मे प्रधान व्यक्ति भारतेन्दु हरिश्चन्द्र दिखलाई पड़ते हैं जिन्होने खड़ी बोली के गद्य को बहुत उन्नत किया। साहित्यिक रचना की दृष्टि से अभी तक गद्य बहुत पीछे पिछड़ा हुआ था। अभी तक वह अपना रूप ही स्थिर कर रहा था। भारतेन्दुजी ने उसके भिन्न-भिन्न अगो की पुष्टि करके एक समुन्नति के युग का सूत्रपात किया। भारतेन्दु–युग स० १९२४ से १९६० तक माना गया है।

भारतेन्दुजी ने स्वयं तो गद्य–रचना आरम्भ की ही, अपने मित्रों को भी इस कार्य मे सलग्न किया। इनके प्रभाव से प्रभावित होकर बद्रीनारायण चौधरी, बालकृष्ण भट्ट, अंबिकादत्त व्यास, प्रतापनारायण मिश्र, श्री निवासदास आदि सज्जन गद्य की सेवा करने को उठ खड़े हुए जिन्होंने उसके विविध अङ्गों (नाटक, उपन्यास और निबन्ध) को जगमगा दिया।

भारतेन्दुजी से पहले गोपालचन्द्र का 'नहुष नाटक' और विश्वनाथ का 'आनद–रघुनंदन' रचा जा चुका था। पर इन दोनो की भाषा व्रज भाषा थी, खड़ी बोली नही। भारतेन्दुजी ने सत्य हरिश्चन्द्र, भारत-दुर्दशा, अंधेर नगरी, वैदिकी हिंसा हिसा न भवति आदि मौलिक और

मुद्राराक्षस, कर्पूरमजरी आदि अनुवादित नाटको की रचना की। श्रीनिवासदास ने रणधीर-प्रेम मोहिनी सयोगिता-स्वयवर और तप्ता-सवरण नामक नाटक लिखे। अबिकादत्त व्यास ने ललिता तथा गोसकट और बद्रीनारायण चौधरी ने भारतसौभाग्य नामक नाटक लिखे। राधाकृष्णदास ने महाराणा प्रतापसिह, दुखिनी बाला और महारानी पद्मावती नामक नाटको की रचना की। इन नाटककारो मे से भारतेन्दुजी ने नाटक-रचना की सस्कृत एवं विलायती शैलियो के बीच का मार्ग ग्रहण किया। वे स्वय उच्च कोटि के अभिनेता थे और रग-मच की आवश्यकताओं को समझते थे। यही कारण है कि उनके नाटक अभिनयोपयुक्त है। उस समय के अन्य सभी नाटककार उन्ही की शैली से प्रभावित हुए। राधाकृष्णदास को नाटक-रचना मे बहुत सफलता हुई।

उपन्यास तो भारतेन्दुजी ने कोई नहीं लिखा, पर उनके सहयोगी विद्वानो ने इस अभाव की पूर्ति की। बालकृष्ण भट्ट ने सौ अजान एक सुजान और नूतन ब्रह्मचारी नामक उपन्यास लिखे। श्रीनिवासदास ने परीक्षा गुरु लिखा। राधाकृष्णदाम ने निस्सहाय हिन्दू उपन्यास रचा। भारतेन्दु युग के उपन्यासो में वस्तु की प्रधानता देखी जाती है। चरित्र के विकास की ओर वैसा ध्यान नही दिया गया है।

निबन्धो का आरम्भ भी भारतेन्दुजी के समय से ही होता है। उन्होने स्वय कई लेख लिखे थे। उनके काल के अन्य लेखको ने निबन्ध-परम्परा को आगे बढाया। भारतेन्दुजी ने कवि वचन सुधा, हरिश्चन्द्र चन्द्रिका और बाला बोधिनी नामक तीन पत्र निकाले। प्रतापनारायण मिश्र ने ब्राह्मण पत्र निकाला। बद्रीनारायण ने आनंद कादंबिनी पत्रिका प्रकाशित की। बालकृष्ण भट्ट ने भी हिन्दी-प्रदीप नामक एक पत्र को जन्म दिया। इन पत्रो के द्वारा लोगो में निबन्ध लिखने का शौक पैदा हुआ।

भारतेन्दुजी के समय से साहित्य-निर्माण का कार्य तो धूमधाम

के चल पड़ा पर भाषा की शुद्धता की ओर लेखकों का उतना ध्यान नहीं था। इस बात की ओर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का ध्यान आकर्षित हुआ। उन्होंने 'सरस्वती' नामक पत्रिका के संपादक के रूप मे पुस्तकों की व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ दिखलाईं और उनके लेखकों को बहुत कुछ सतर्क कर दिया। भाषा की सफाई के अतिरिक्त द्विवेदीजी ने निबन्ध भी अच्छे लिखे है। द्विवेदीजी के नाम पर सं० १९६० से १९७५ तक का समय द्विवेदी-युग कहलाता है।

द्विवेदी-युग मे मौलिक नाटकों की रचना नही सी हुई। सस्कृत बॅगला और ॲगरेजी से नाटकों का अनुवाद ही हिन्दी में हुआ। सस्कृत से नाटकों के अनुवाद प० सत्यनारायण तथा ला० सीताराम ने किए। लालाजी ने ॲगरेजी के नाटकों का भी अनुवाद हिन्दी मे किया। रूप-नारायण पॉडे ने द्विजेन्द्रलाल राय एव गिरीशचन्द्र घोष के बगाली नाटकों का अनुवाद किया।

नाटकों के समान उपन्यास भी प्रधानतः अनुवादित ही रचे गए। मौलिक उपन्यास लेखकों में सबसे अधिक प्रचार पाने का सौभाग्य देवकीनदन खत्री को प्राप्त हुआ। चन्द्रकांता और चन्द्रकातासतति नें न जाने कितने लोगो मे हिन्दी सीखने का शौक पैदा किया। किशोरीलाल गोस्वामी ने ॲगूठी का नगीना, लखनऊ की कब्र आदि अच्छे मौलिक उपन्यास लिखे। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने ठेठ हिन्दी का ठाठ और अधखिला फूल दो उपन्यास लिखे। गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यास भी इसी काल मे निकले।

निबन्ध-क्षेत्र मे अपेक्षाकृत अच्छा कार्य हुआ। द्विवेदीजी के अति-रिक्त चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, अध्यापक पूर्णसिह, पद्मसिह शर्मा, बा० श्यामसुन्दरदास, पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि ने अच्छे निबन्ध लिखे हैं। पूर्णसिंह और प० रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध तो बड़े उच्चकोटि के देखे गए हैं। पूर्णसिह के निबन्ध भावात्मक श्रेणी मे और शुक्लजी के निबन्ध विचारात्मक श्रेणी में स्थान पाते हैं। समालोचना भी निबन्ध

के अन्तर्गत आती है। हिन्दी मे सबसे पूर्व समालोचना बद्रीनारायण चौधरी ने श्रीनिवासदास के 'सयोगता स्वयवर' नाटक की अपनी पत्रिका 'आनद कादबिनी' में की। यह लेख–रूप में थी। प० महावीरप्रसाद ने पुस्तक रूप मे समालोचनाएँ लिखी। मिश्र-बधुओ ने 'हिन्दी नवरत्न' और 'मिश्रबधु विनोद' नामक समालोचनात्मक ग्रन्थ लिखे। पद्मसिह शर्मा ने तुलनात्मक प्रणाली पर बिहारी की आलोचना लिखी। पर इनमे से किसी समालोचना मे भी कवि या लेखक के अन्तः प्रकृति की छानबीन नही देखी गई। इसके दर्शन जाकर वर्तमान युग में हुए जिसका आरम्भ स० १९७५ से हुआ है।

खड़ी बोली गद्य के विकास का विशद रूप इस वर्तमान काल मे ही दिखलाई दिया है। आजकल नाटक, उपन्यास, निबन्ध और आख्यायिका—गद्य के सभी अग खूब पुष्ट हो रहे है।

पहले नाटक को ही लीजिए। इस क्षेत्र मे बा० जयशकर 'प्रसाद' के अवतीर्ण होने से नाटक की काया पलट गई। उनसे पहले के नाटकों में चरित्र-चित्रण पर ध्यान नही दिया जाता था पर 'प्रसाद' जी ने अपने नाटकों में चरित्र–चित्रण को बड़ा महत्व दिया है और रस की धारा भी प्रवाहित की है। उनके नाटक प्राचीन भारत की संस्कृति का भव्य चित्र नेत्रों के सामने खीच देते हैं। पर उनमें एक दोष पाया जाता है। वे अभिनय के योग्य नही हैं। बद्रीनाथ भट्ट की दुर्गावती मे अभिनय की विनोदपूर्ण सामग्री है। गोविन्दबल्लभ पंत भी अच्छे नाटककार हैं। उनकी वरमाला अभिनयोपयुक्त सफल रचना है। उग्र का महात्मा ईशा, माखनलाल चतुर्वेदी का कृष्णार्जुन युद्ध, जगन्नाथ-प्रसाद 'मिलिद' की प्रतापप्रतिज्ञा और राधेश्याम का वीर अभिमन्यु भी श्रेष्ठ नाटक हैं। इधर सुमित्रानदन पत ने ज्योत्स्ना नामक नाटक लिखा है, पर वह नाटक न होकर काव्य ही हो गया है।

उपन्याम के क्षेत्र में बा० प्रेमचन्द ने अपनी अनुपम प्रतिभा का प्रकाश फैलाया। उनके उपन्यासो मे वस्तु का विन्यास और मानव-

हृदय का विश्लेषण उच्चकोटि का होता है। समाज की कमजोरियो का दिग्दर्शन उनमे खूब कराया जाता है। 'प्रसाद' जी ने 'कंकाल' और 'तितली' दो उपन्यास लिखे हैं पर वे इस कार्य मे उतने सफल नही हुए है। वृन्दावनलाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। उनका 'गढ-कुंडार' उपन्यास-साहित्य का देदीप्यमान रत्न है। इनके अतिरिक्त 'कौशिक', जैनेन्द्रकुमार, चडीप्रसाद, 'उग्र', चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण आदि अनेक लेखक उपन्यास-क्षेत्र मे कार्य कर रहे है।

निबन्ध–क्षेत्र मे इधर कुछ दिनो से लोग भावात्मक निबन्धो की ओर आकृष्ट हुए हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीताजलि' के अनुकरण पर रामकृष्णदास ने 'साधना', चतुरसेन शास्त्री ने 'अतस्तल' और वियोगीहरि ने 'अतर्नाद' और 'भावना' नामक निबन्ध–ग्रन्थ लिखे हैं। दिनेशकुमारी चोरड्या का 'शबनम' नामक भावात्मक निबन्धो का सग्रह अभी प्रकाशित हुआ है। मासिक-पत्रों मे इनकी भरमार रहती है। यह अच्छा नही। इस प्रकार के निबन्ध भाषा के प्रकृत विकास मे बाधक होगे। समालोचनात्मक निबन्धो के पथ-प्रदर्शक पं० रामचन्द्र शुक्ल के दिखलाए हुए मार्ग पर चलते हुए आज कई समालोचक देखे जाते हैं। जैसे–पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, कृष्णशंकर शुक्ल, रामकृष्ण शुक्ल, श्यामसुदरदास आदि। शुक्ल जी एक प्रौढ़ समालोचक है जो कवि या लेखक की अतरात्मा मे प्रवेश करके उसकी विशेषताओ का उद्घाटन करते है। उनकी तुलसी, सूर और जायसी की समालोचनाएँ हिंदी–साहित्य की दिव्य विभूतियाँ हैं।

यो तो आख्यायिकाओ का आरम्भ द्विवेदी–युग मे गिरिजाकुमार घोष (पार्वतीनदन) नामक सज्जन से ही होगया था पर उस समय उनमे प्रौढता नहीं आई थी। आजकल उनमें अच्छी छटा देखी जाती है। वे या तो घटनात्मक हैं या भावात्मक। पहली में लेखक का उद्देश्य किसी घटना का वर्णन मात्र रहता है और दूसरी मे लेखक मानव–हृदय के

भावो का विश्लेषण करता है। प्रेमचन्दजी की कहानियाँ घटनात्मक और 'प्रसाद' जी की भावात्मक होती हैं। प्रेमचन्दजी की कहानियो का साहित्य मे उच्च स्थान है। आजकल कहानियो की तो बाढ़ सी आ गई है। 'कौशिक', 'हृदयेश', उग्र, सुदर्शन, जैनेन्द्र, चतुरसेन, रायकृष्णदास, विनोदशकर, ऋषभचरण, सियारामशरण, निराला, सुभद्राकुमारी, शिवरानी आदि अनेक लेखक-लेखिकाएँ कहानियाँ लिखती हैं। हास्य-रस की रचना करनेवालो मे जी० पी० श्रीवास्तव और अन्नपूर्णानन्द प्रसिद्ध हैं।

साराश यह है कि हिन्दी-गद्य की आजकल बहुत उन्नति हो रही है। गद्य में अनेक विषयो पर पुस्तके रची जा रही है इतिहास, विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि हिन्दी में लिखे जाने लगे हैं। पर वह कुछ अशों में अगरेजी गद्य की नकल कर रहा है, यही बुरा है। इंगलैंड में साहित्य की प्रवृत्ति 'वास्तविकता' की ओर हो रही है। इस प्रवृत्ति का प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ रहा है और नाटक, उपन्यास और आख्यायिका से काव्यत्व हटाया जा रहा है। यह अच्छा नही। हमे तो अपने गद्य का स्वतन्त्र विकास करना चाहिए, इसी मे हमारा गौरव है, इसी मे हमारी शोभा है।

समाज की देश-काल के अनुरूप व्यवस्था

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—समाज का अर्थ

(२) स्थान का समाज पर प्रभाव और उसकी व्यवस्था

(३) भारतवष का उदाहरण—

(क) देश की प्राकृतिक स्थिति से धर्म का विकास

(ख) जीविकोपार्जन की सरलता से सम्मिलित परिवार की योजना

(ग) जल-वायु के कारण देश की पराधीनता

(४) समय का समाज के रूप-निर्माण में हाथ

(५) भारतवर्ष का उदाहरण—

(क) मुसलमान-काल मे बाल-विवाह और पर्दे की रिवाजों का जन्म, पर आजकल उनकी अनावश्यकता

(ख) प्राचीनकाल में वर्ण-व्यवस्था की आवश्यकता, पर आज-कल उसकी अनावश्यकता

(ग) समय के प्रभाव से भारतवर्ष में देश प्रेम और स्वतन्त्रता की लहर

(घ) समय के प्रभाव से भारतवर्ष मे विज्ञान की करामातें

(६) उपसंहार—सारांश

समाज व्यक्तियो का समूह है। सारे ससार के व्यक्तियों को मिला कर मनुष्य-समाज कहा जा सकता है। समाज शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ मे भी होता है। किसी जाति या किसी पेशे के मनुष्यो की

गणना भी समष्टि रूप में समाज के नाम से होती है। जैसे—हिन्दू-समाज मुस्लिम-समाज, अँगरेज-समाज ब्राह्मण-समाज, व्यापारी–समाज आदि। प्रत्येक समाज के नियम, उसकी रहन-सहन, उसकी व्यवस्था, अन्य समाजो से भिन्न होती है। अनेक बाते उसके रूप को गढने में सहायता देती हैं। अनेक प्रवृत्तियाँ उसको प्रभावित करती रहती हैं। स्थान और समय के अनुसार उसमे रूपान्तर देखा जाता है।

स्थान का समाज पर विशेष प्रभाव पड़ता है। किसी देश की परिस्थिति उस देश के समाज के रूप को गढने मे सहायक होती है। यह सर्वदा देखा गया है कि जैसा देश-होता है वैसा ही समाज का वेश होता है। समाज की व्यवस्था में देश या स्थान बहुत हाथ बटाता है। भारतवर्ष को ही लीजिए। भारतीय समाज धर्म–प्राण है। उसमे सभी बातें धर्म की कसौटी पर कसी जाती हैं। कोई भी कार्य जो किया जाता है उसकी उपयुक्तता धर्म के अनुसार देखी जाती है। धर्म के इतने अधिक महत्व का कारण देश की स्थिति है। इस देश मे प्रकृति ने निवासियों के लिए सब प्रकार का सुभीता कर दिया है। यहाँ की भूमि बड़ी उपजाऊ है। प्राचीन समय मे और देशवासियो की तरह यहाँ के रहनेवालो को जीविकोपार्जन मे वैसी कठिनाई नही पड़ती थी। धरती-माता उनके खाने के लिए पर्याप्त अनाज दे देती थी। अतः यहाँ के निवासियों का ध्यान जीवन की समस्याओं की ओर प्रायः नही रहता था। शस्य–श्यामला भूमि ने भारतवासियो को जीवन के प्रति उदासीन बना दिया था। वे ईश्वर के विषय मे चिंतन किया करते थे। आध्यात्मिक बातो में, आध्यात्मिक विषयो में, उनका मन लगता था। धीरे-धीरे भारतवासियो ने यह अनुभव किया कि जीवन का लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति है। अतएव धर्म को वे अत्यधिक महत्व देने लगे। जीवन-सम्बन्धी सभी प्रश्नो को वे धर्म की कसौटी पर कसते थे। यही मनोवृत्ति आज तक चली आ रही है। इसके विपरीत दशा है इगलैएड आदि अन्य देशों की जहाँ पर प्रकृति ने कुछ भी सुभीता नहीं किया है।

इँगलैंड का समाज जीवन को धर्म से अधिक महत्व देता है। वहाँ वालों के लिए सासारिक जीवन आध्यात्मिक जीवन से अधिक महत्व रखता है। कारण यह है कि जीविका कमाने के लिए इँगलैण्ड वालों को बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करते रहना पड़ा है वे कभी जीविका के सम्बन्ध मे निश्चित नही रहे। जैसा कि कहा है—'भूखे भजन न होइ गोपाला' इँगलैण्ड वालों का ध्यान आध्यात्मिकता की ओर कभी आकर्षित नहीं हुआ।

सम्मिलित परिवार की प्रथा भारतीय समाज की दूसरी विशेषता है। इँगलैण्ड मे यह प्रथा नहीं पाई जाती। इसका कारण भी देश की प्राकृतिक दशा की श्रेष्ठता है। यहाँ प्राचीन काल मे परिवार का एक ही मनुष्य सुगमता से इतनी अधिक जीविका उपार्जन कर लेता था कि उसे पूरे परिवार के पालन-पोषण में कोई कठिनाई नही पड़ती थी, पर इँगलैण्ड में मनुष्य को अपना ही पेट भरना कठिन हो जाता था। यही दशा अब भी है। अतः वहाँ सम्मिलित परिवार की प्रथा नहीं है। आजकल भारतवर्ष में भी सम्मिलित परिवार की प्रथा टूटती जा रही है। इसका कारण देश की आर्थिक दशा का बुरा होना है। आज भारतवासी इस योग्य नहीं रहे कि सम्मिलित परिवार का भार उठा सकें।

भारतीय समाज की तीसरी विशेषता है उसकी पराधीनता। इसका उत्तरदायित्व देश की जलवायु पर है। भारतवर्ष की जलवायु यहाँ के निवासियों को सुस्त बनाती है। गर्म देश के निवासी प्रायः सुस्त देखे जाते हैं। ठडे देशो के रहनेवाले स्फूर्तिवान्, शक्तिशाली और कर्तव्य-परायण होते हैं। इँगलैण्ड वाले फुर्तीले तथा शक्तिशाली हैं। उन्होंने अन्य देशो पर अधिकार प्राप्त किया है। वे किसी की अधीनता में रहना नहीं चाहते। भारतवासी सुस्त होने के कारण बलवान् तथा कर्तव्यपरायण नहीं पाए जाते। वे सदैव पराजित होते रहे हैं और दूसरों के अधीन रहे हैं।

समय के अनुसार भी समाज की व्यवस्था परिवर्तित होती रहती है। जा बाते, जो नियम, प्राचीन समय मे किसी समाज की रक्षा के लिए, किसी समाज की उन्नति के लिए, आवश्यक थे उनकी आवश्यकता अब नही पाई जाती और कई ऐसी बातें हैं जिनकी अब आवश्यकता है पहले नही थी। जैसे भारतवर्ष मे मुसलमान-काल मे पर्दे एव बाल-विवाह की प्रथाएँ प्रचलित हुई। उस समय हिंदू महिलाओं पर मुसलमानो के अत्याचार होते थे। मुसलमान-शासक किसी सुदरी पर मोहित होकर बलात् उसको अपनी स्त्री बनाते थे। मुगल बादशाहों में तो यह कुप्रवृत्ति अपनी सीमा तक पहुँच गई थी। किसी सुदरी को देखा और उसे अपने हरम मे रख लिया। यह उनका नियम था। ऐसी दशा मे हिन्दू अपनी मान-रक्षा के लिए अपनी स्त्रियो को, अपनी कन्याओं को, अपनी बहिनों को, पर्दे के अन्दर रखने लगे जिससे मुसलमान-शासक उनके सौन्दर्य को न देख सके। इसके अतिरिक्त उन्होंने बाल-विवाह को भी अपनाया। वे बाल्यावस्था मे ही जब तक कि लड़की के अगों का विकास नही होता था उसका विवाह कर दिया करते थे। इस प्रकार उसकी रक्षा का भार उनके ऊपर से हटकर उसके पति पर पहुँच जाता था। अतः स्पष्ट है कि मुसलमान-काल मे परिस्थिति-वश हिंदुओं को पर्दे और बाल-विवाह की शरण लेनी पड़ी। पर आजकल इनमे से किसी की भी आवश्यकता नही है। पर्दे और बाल-विवाह से समाज को जितनी हानि हुई है वह किसी भी मनुष्य से छिपी नहीं है। पर्दे ने स्त्रियो के स्वास्थ्य पर तो कुठाराघात किया ही है, साथ ही उन्हे अशिक्षित एव बाह्य जगत के अनुभव से भी वचित कर रक्खा है। बाल-विवाह ने रुग्ण संतान और विधवाओं की सख्या में वृद्धि की है। आज समाज इन दोनो बातो से परेशान है। अब इन कुरीतियो का समय नहीं रहा है। समाज के हित में यह वाछनीय है कि स्त्रियाँ पर्दे के बाहर आकर पुरुषो के साथ कधे से कधा भिड़ाकर कार्य-

क्षेत्र में अग्रसर हो और बालक-बालिकाओं का विवाह न होकर परिपक्वास्था में पुरुष और स्त्री का विवाह हुआ करे।

हिन्दू समाज में प्राचीन काल मे वर्णों की आवश्यकता थी। प्रत्येक हिन्दू मनुष्य उस अशाति के समय अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नही कर सकता था। वही ईश्वर-भजन, अपनी रक्षा, अपना भरण-पोषण और अपने कार्यों की देख भाल नही कर सकता था। इसलिए कार्य-विभाग के सिद्धान्तानुसार ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों की स्थापना की गई। पर आजकल वर्ण-व्यवस्था की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। कोई ऐसी अशाति नहीं दिखाई देती जिसके कारण एक मनुष्य अपना पेट-पालन, अपनी रक्षा, ईश्वर-भजन, आदि कार्यों को न कर सके। आजकल तो लोग वर्ण-व्यवस्था को समाज के लिए हितकर नही समझते। उनका कहना है कि वर्ण-व्यवस्था ने हिंदू समाज के ऐक्य को नष्ट कर दिया है। उच्च वर्ण वाले शूद्रो से घृणा करते हैं। उनको अपने से नीचा समझते हैं, पृथक् समझते हैं।

यह समय का ही प्रभाव है कि आजकल भारतवर्ष में देश-प्रेम और स्वतन्त्रता की लहर फैल रही है। जो देश सदैव परतन्त्र रहा वह आज स्वतन्त्र होने की चेष्टा कर रहा है। ससार भर में जब स्वतन्त्रता की दुन्दुभी बज रही है तब भारतवर्ष मे क्यों न बजे? देश-प्रेम भी भारतीयो में भूतकाल में कभी नही देखा गया। प्राचीन भारतीय साहित्य में भी उसका रूप नहीं मिलता। यदि भारत-निवासी देश-प्रेमी ही होते तो इस प्रकार सरलता से विदेशी आक्रमणकारी इस देश पर अधिकार जमा लेते? सच तो यह है कि भूतकाल मे कभी यहाँवालों ने मिलकर देश की रक्षा नहीं की।

यह विज्ञान का युग है। विज्ञान जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रवेश करता जा रहा है। भारतवर्ष में भी अन्य देशों की भाँति इसका बोल बाला है। यहाँ पर चारों ओर वैज्ञानिक यन्त्रो की धूम है। मोटर,

वायुयान, टैलीफोन, टैलीविजन, रेडियो, ऐक्स रे आदि यत्रों ने भारतवर्ष का रूप बदल दिया है। यदि हमारे प्राचीन पूर्वजों मे से कोई आज हमसे मिलने आ जाय तो स भव है वह भारतवर्ष का रूप देखकर भ्रम में पड़ जाय।

इसी प्रकार और भी कई बा ते हैं जो बतलाती हैं कि समाज की व्यवस्था देश और काल के अनुरूप होती रहती है। भिन्न-भिन्न स्थान-वालो के समाज विभिन्न प्रकार के पाए जाते हैं और समय-समय पर एक ही स्थानवालो के समाज मे अन्तर और परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन सृष्टि का नियम है। उसे कौन रोक सकता है? टैनीसन नामक एक अँगरेज कवि ने कहा भी है—

The old order changeth, yielding place to new,
And God fulfils himself in many ways
Lest one good custom corrupt the world.

अर्थात् प्राचीन नियम परिवर्तित होता है और उसके स्थान पर नवीन नियम अधिकार कर लेता है। परमेश्वर अनेक प्रकार से संसार की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, जिससे कहीं एक अच्छा रिवाज भी कभी ससार को भ्रष्ट न कर दे।

कवि अपने समय का प्रतिनिधि होता है

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—मैथ्यू आर्नल्ड की उक्ति

(२) हिन्दी-साहित्य का निरीक्षण—

(क) वीरगाथा-काल के कवियों द्वारा अपने समय की विशेषताओं का दिग्दर्शन

(ख) भक्तिकाल के कवियों द्वारा जनता की चित्त-वृत्तियों का चित्रण

(ग) रीतिकाल के कवियों द्वारा जनता के जीवन का चित्रण

(घ) आधुनिक काल के कवि और समय की विशेषताएँ—

(अ) शोक का साम्राज्य (आ) राष्ट्रीयता की लहर

(इ) अछूतोद्धार की गूँज (ई) स्त्रियों के साथ सहानुभूति

(उ) हिन्दू-मुस्लिम-एकता

(३) उपसंहार—कवि के लिए अपने समय का प्रतिनिधित्व अनिवार्य होना

मैथ्यू आर्नल्ड नामक एक विद्वान् का कथन है--The poet and the age react upon each other अर्थात् कवि और समय एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। कवि अपनी रचनाओं मे समय की प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराता है। वह अपने समय का प्रतिनिधित्व करता है। किसी भी जाति के साहित्य का अवलोकन करने पर हम उसमे यह स्प रूप से देखते हैं कि उसके कवियो ने अपने समय के भावों, विचारों, आकांक्षाओं आदि को ही अपनी रचना में प्रकट किया है। कहना

चाहें तो यों कह सकते हैं कि कवि की कृति में उसके समय की विशेषताएँ झाँकती हुई दिखलाई देती हैं। हम हिन्दी-साहित्य को लेकर इस तथ्य पर प्रकाश डालेंगे।

हिंदी-साहित्य का इतिहास चार कालों में विभाजित हुआ है—(१) आदि काल अथवा वीरगाथा-काल (२) पूर्व मध्यकाल अथवा भक्तिकाल (३) उत्तर मध्यकाल अथवा रीति-काल और (४) आधुनिक काल अथवा गद्य-काल।

वीरगाथा-काल लड़ाई-भिड़ाई का समय था। यह वह समय था जब भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे और भारतवर्ष का शासन क्षत्रियों के हाथ में था। हर्षवर्द्धन के पश्चात् देश छोटे-छोटे राजों में बट गया था। क्षत्री राजा छोटे-छोटे भूभागों के शासक थे और शौर्य प्रदर्शनार्थ आपस में लड़ा करते थे। उस समय के युद्धों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) विदेशी आक्रमणकारियों को रोकने के लिए छेड़े गए अवरोधात्मक युद्ध और (२) शौर्य-प्रदर्शनार्थ छेड़े गए पारस्परिक युद्ध। कभी-कभी कन्यादान भी पारस्परिक युद्ध का कारण हो जाता था। राजपूत लड़कियों के विवाह करने में अपनी बड़ी हेटी समझते थे। अतः कभी-कभी विवाह-मंडप में ही तलवारें चल जाती थीं। किसी राजा की कन्या की सुन्दरता का समाचार पाकर दलबल के साथ चढ़ाई कर दी जाती थी और उस कन्या को बलपूर्वक हर लाया जाता था। ऐसा करना वीरता की निशानी समझा जाता था। इन्हीं सब प्रवृत्तियों की छाप उस समय के कवियों की रचनाओं में पाई जाती है। बीरगाथा-काल की रचनाएँ 'रासो' के नाम से प्रसिद्ध हैं। जैसे—पृथ्वीराजरासो, खुमानरासो, बीसलदेवरासो इत्यादि। पृथ्वीराजरासो के रचयिता चन्द बरदाई ने मुहम्मद गोरी के भारतवर्ष पर किए गए आक्रमणों और पृथ्वीराज के उसके साथ लड़े गए युद्धों का विस्तृत वर्णन किया है। चन्द ने यह भी लिखा है कि पृथ्वीराज ने किस प्रकार जयचंद आदि राजाओं से

उनकी कन्याओं को प्राप्त करने के लिए अनेक युद्ध किए। मुहम्मद गोरी और पृथ्वीराज के द्वेष का कारण भी चन्द ने एक स्त्री को रक्खा है। गोरी अपने यहाँ की एक सुन्दरी पर मोहित था जो उसे नहीं चाहती थी। वह अपनी रक्षा के लिए पृथ्वीराज के पास भाग आई। गोरी ने पृथ्वीराज को उसके निकाल देने के लिए लिखा। पृथ्वीराज ऐसा करने को तैयार नहीं हुआ। इसी पर गोरी पृथ्वीराज से अप्रसन्न हो गया। खुमानरासो के रचियता दलपति विजय ने खुमान के बगदाद के खलीफा अलमामूँ के साथ युद्ध का उल्लेख किया है। बीसलदेवरासो के कर्ता नरपति नाल्ह ने बीसलदेव द्वारा राजा भोज की पुत्री राजमती का प्राप्त करना लिखा है।

अब भक्ति-काल की ओर आइए। जब मुसलमानो ने धीरे धीरे एक एक राजा को हराकर अपना साम्राज्य भारतवर्ष मे स्थापित कर लिया तब हिन्दू जनता मे उत्साह और आत्माभिमान नही रह गया। उनके सामने ही उनकी पूज्य मूर्तियाँ तोडी जाती थी और वे चुपचाप देखते रहते थे। उनके साथ दुर्व्यवहार होते थे, उन पर अत्याचार होते थे और वे निस्सहाय सब कुछ सह लेते थे। जीवन उनके लिए नीरस हो गया था। उन्हे चारो ओर अधकार ही अधकार दिखलाई देता था। वे निराशा के गर्त मे डूब रहे थे। ऐसी दशा मे स्वभावतः उनका ध्यान ईश्वर की ओर जाने लगा। वे ईश्वर से प्रार्थना करने लगे कि वह अत्याचारियो का दमन करे। उनके हृदय मे भक्ति की धारा हिलोरें लेने लगी। यही कारण है कि उस समय के साहित्य मे भक्ति की भावनाओ की प्रचुरता पाई जाती है। ज्ञानाश्रयी, प्रेममार्गी, कृष्णभक्त और रामभक्त कवि अपने अपने ढग से जनता की चित्तवृत्तियों का चित्रण करने लगे।

ज्ञानश्रयी कवियों ने हिन्दू-मुसलमानो के वैमनस्य को दूर करने के लिए 'सामान्य भक्तिमार्ग' चलाया जिसमे हिन्दुओं के अद्वैतवाद और मुसलमानों के खुदावाद दोनों के सामान्य सिद्धान्तों का

समावेश किया गया। यह बतलाया गया कि हिंदुओं का ईश्वर और मुसलमानों का खुदा पृथक् पृथक् नहीं एक ही है। प्रेममार्गी कवियों ने भी हिंदू-मुसलमानों के भेदभाव को दूर करके उनको प्रेम-सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया। उन्होंने बतलाया कि ईश्वर या खुदा प्रेमस्वरूप है। उसकी भक्ति आपस में प्रेम का व्यवहार करने से ही की जा सकती है, अन्यथा नहीं। पर कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों प्रकार के कवियों में से किसी के द्वारा भी हिन्दू-जनता की निराशा और खिन्नता दूर न हुई।

आगे चलकर सगुणोपासक कवियों ने ही हिंदू-जनता का हृदय सँभाला। पहले सूरदास आदि कृष्ण भक्ति कवियों ने ईश्वर के अवतार कृष्ण का हँसता-खेलता हुआ रूप दिखला कर हिन्दुओं की खिन्नता दूर की। उन्होंने कृष्ण की बाल-लीला और यौवन लीला को लेकर बड़ी सरलता के साथ उनका वर्णन किया। उसका यह प्रभाव पड़ा कि जनता का जीवन सरस हो गया। पर अभी निराशा बनी हुई थी। जब तक वे ईश्वर का दुष्ट-दलनकारी रूप नहीं देखते थे तब तक कैसे उनकी निराशा का उन्मूलन हो सकता था? रामभक्त कवि तुलसीदासजी ने हिंदू-जनता की चित्तवृत्ति को समझा और भगवान के अवतार राम का शक्ति-समन्वित रूप जनता में प्रतिष्ठित करके उसकी निराशा को सर्वदा के लिए विदा कर दिया। जनता ने राम में संहारक शक्ति का साक्षात्कार करके अपने अत्याचारियों के विनाश की भी आशा की। गोस्वामीजी ने राम के अवतार का कारण राक्षसों द्वारा पृथ्वी का व्यथित होना बतलाया और कह दिया—

जब जब होय धरम कै हानी।
बाढहिं असुर अधम अभिमानी॥
करहि अनीति जाइ नहि बरनी।
सीदहि विप्र धेनु सुर धरनी॥

परिस्थितियाँ उनके अनुकूल नही। राजनीति-क्षेत्र में समाज दासत्व की बेडियो से जकड़ा हुआ पड़ा है। उधर सामाजिक कुरीतियाँ उसकी जडे खोखली कर रही हैं। बेकारी की समस्या ने मनुष्यों का जीवन नीरस बना दिया है। इन्ही सब कारणो से समाज उदासीनता के सागर में निमग्न हो रहा है। कवि भी वेदना, करुणा, निराशा आदि की व्यजना करते हुए देखे जाते हैं। भारतेन्दुजीने भारत की दुर्दशा पर आँसू बहाए हैं। देखिए सुमित्रानद पन्त क्या कहते हैं—

बिना दुख के सब सुख निस्सार।
बिना आँसू के जीवन भार॥

सुभद्राकुमारी चौहान का जलियाँवाले बाग का वर्णन भी कैसा करुणाजनक है, देखिए—

परिमल हीन पराग दाग़ सा बना पड़ा है।
हा! यह प्यारा बाग़ खून से सना पड़ा है॥

'प्रसाद' जी की 'आँसू' शीर्षक कविता में वेदना का जीता-जागता रूप है।

राष्ट्रीयता की लहर भी अर्वाचीन समाज मे उठ रही है। मैथिली-शरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी आदि कवियों की कृतियो मे उनके छींटे उड़ रहे हैं। गुप्तजी की 'भारत-भारती' राष्ट्रीयता का ज्वलत उदाहरण है। सुभद्राजी की कविता 'राखी की चुनौती' भी राष्ट्रीय भावों से ओतप्रोत है। देखिए—

मेरा बधु माँ की पुकारों को सुनकर—
के तैयार हो जेलखाने गया है।
छीनी हुई माँ की स्वाधीनता को
वह जालिम के घर मे से लाने गया है।

चतुर्वेदी जी का पुष्प क्या अभिलाषा करता है, देखिए—

चाह नहीं, मैं सुर-बाला के गहनो मे गूँथा जाऊँ।
चाह नहीं, प्रेमी-माला मे बिध, प्यारी को ललचाऊँ॥

चाह नहीं, सम्राटों के शव पर है हरि! डाला जाऊँ।
चाह नहीं, देवों के शिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ॥
मुझे तोड़ लेना बनमाली! उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक॥

यह अछूतोद्धार का जमाना है। वियोगीहरि, मैथिलीशरण गुप्त आदि की कविताओं में उसकी छाप देखी जाती है। वियोगीहरि कहते हैं—

सु-सरि औ अंत्यज दुहूँ, अच्युत-पद-संभूत,
भयौ एक क्यों छूत औ दूजौ रह्यौ अछूत!

गुप्तजी कहते हैं—

इन्हें समाज नीच कहता है पर हैं ये भी तो प्राणी।
इनमें भी मन और भाव हैं किन्तु नहीं वैसी वाणी॥

स्त्रियों की दीनावस्था का अनुभव भी समाज कर रहा है। उनकी दशा के विषय में गुप्तजी कहते हैं—

नरकृत शास्त्रों के सब बन्धन हैं नारी ही को लेकर।
अपने लिए सभी सुविधाएँ पहले ही कर बैठे नर॥

इसी प्रकार हिन्दू-मुस्लिम-एकता की भी छाप कवियों की रचनाओं में देखी जाती है।

अतः यह स्पष्ट है कि कवि अपने समय का प्रतिनिधि होता है। ऐसा होना उसके लिए अनिवार्य है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका वातावरण सामाजिक वातावरण है। समाज की परिस्थितियाँ, आकाँक्षाएँ और विचार मनुष्य को प्रभावित किए बिना नहीं छोड़ सकते। जो कुछ वह समाज से ग्रहण करता है वही अपने व्यक्तित्व की छाप के साथ अपनी रचनाओं के रूप में उसे सौंप देता है।

सभ्यता के विकास में काव्य का स्थान

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—सभ्यता का अभिप्राय

(२) हृदय के परिष्कार के लिए काव्य की आवश्यकता

(क) भावों का उद्बोधन (ख) आचार का सुधार

(३) मैकौले का कथन और उसका त्रुटि-पूर्ण होना

(४) सभ्यता के साथ विज्ञान की उन्नति और विज्ञान तथा कविता में विरोध

(५) काव्य का जीवन की व्याख्या होने के कारण सभ्यता के विकास में सहायक होना

(६) काव्य का समाज का दोषान्वेषी होना और सदैव समाज मे परिष्कार करते रहना

(७) काव्य-रचना न करनेवाली जातियों का असभ्य होना

(८) उपसंहार—काव्य के बिना किसी जाति का सभ्य न होना

सभ्यता से तात्पर्य किसी जाति या समाज के लोगों का सस्कृत हृदय, सस्कृत बुद्धि, सस्कृति वाणी, संस्कृत आचार-व्यवहार वाले होना है। जिस जाति में मनुष्यो के हृदय परिष्कृत होगे उनकी बुद्धि विकसित होगी, उनके व्यवहार में शिष्टता पाई जायगी वह जाति सभ्य कही जायगी। पर आजकल उसी जातिकी सभ्यता विकसित कही जाती है जो बुद्धि का विकास कर लेती है, जो वैज्ञानिक आविष्कारो द्वारा जीवन मे परिवर्तन करती जाती है। आजकल परिवर्तन ही सभ्यता की कसौटी समझा जा रहा है। इसे कौन देखता है कि

परिवर्तन बुरा है या अच्छा? इसी बात से खिन्न होकर एक कवि ने कहा है—

परिवर्तन ही यदि उन्नति है
तो हम बढ़ते जाते है,
किन्तु मुझे तो सीधे-सच्चे
पूर्व भाव ही भाते हैं।

वस्तुतः उच्चता की ओर अग्रसर करने वाला परिवर्तन सभ्यता का विकास कहा जा सकता है, अधोगति की ओर लेजानेवाला परिवर्तन नहीं। इसके अतिरिक्त सभ्यता के विकास के लिए बुद्धि के विकास मात्र से काम नही चलेगा। बुद्धि के साथ-साथ हृदय का भी परिष्कार परमावश्यक है। क्या ऐसा मनुष्य जिसका मस्तिष्क पर्याप्त विकसित है, जो खूब बुद्धिमान है, सभ्य कहा जा सकेगा यदि वह एक दीन-हीन भूख से तड़पती हुई बुढिया की आर्त पुकार से नहीं पिघलता ? क्या ऐसा मनुष्य सभ्य कहा जा सकेगा जो किसी अबला पर अत्याचार होते देखकर अपने हाथ उसकी रक्षा के लिए नहीं बढाता ? क्या ऐसा मनुष्य सभ्य कहा जा सकेगा जो नीति-रहित जीवन व्यतीत करता है ? कभी नहीं।

हृदय के परिष्कार के लिए काव्य का अस्तित्व नितात आवश्यक है। कवि अपनी रचना मे मानव-जीवन का चित्र उपस्थित करता हुआ हमे नीति की शिक्षा देता है, हमे सदाचार का पाठ पढाता है और हमारे भावो का उद्बोधन करता है। मानव-जीवन की मार्मिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराती हुई कविता मनुष्य के भावों को जीवित रखती है, उन पर सान चढाती है। मनुष्य के कार्य उत्तरोत्तर जटिल एव अधिक होते गए हैं। वह दिन भर पेट की समस्या हल करने के लिए कुछ-न-कुछ करता ही देखा जाता है। एक मजदूर को देखिए जो प्रातःकाल से सायकाल तक पसीने मे तर हुआ इधर से उधर बोझा ढोता फिरता है। एक किसान को देखिए जो सबेरे सूर्योदय के

पूर्व ही खेत जोतने को घर से बाहर निकल जाता है और संध्या के समय सूर्यास्त के पश्चात् घर लौटता है। एक दूकानदार को लीजिए जो अपनी दूकान पर बैठा हुआ दिन भर सौदा बेचता रहता है और पैसे गिनता रहता है। एक ही कार्य में सदैव संलग्न रहने के कारण मनुष्य का हृदय संकुचित हो जाता है। उसके हृदय में कई भाव, जिनकी आवश्यकता उसे अपने दैनिक जीवन में कभी नहीं पड़ती, मर जाते हैं और फिर कभी किसी अवसर पर यदि उन भावों की आवश्यकता भी आ पड़ती है तो वे पुनः जीवित नहीं होते। यही कारण है कि रुपए-पैसे गिनते हुए लालाजी एक अपाहिज भूखे की विनय को सुनकर टस से मस नहीं होते। उनके हृदय में दया का भाव नहीं उदित होता। हो भी कैसे? अपने दैनिक जीवन में उनको कभी उस भाव की आवश्यकता ही नहीं हुई। अतः वह भाव उनके हृदय में मर गया। हृदय के भिन्न-भिन्न भावों की रक्षा कविता ही द्वारा हो सकती है। मनुष्य के जीवन में होने वाली घटनाओं का, जिनमें विविध प्रकार के भावों के उद्बोधन की सामग्री रहती है, आश्रय लेकर कविता मानव-हृदय को सजीव रखती है। उसके द्वारा भावों का व्यायाम होता रहता है। कोई कितना ही कार्य-भार से दबा रहता हो यदि वह कविता से सम्बन्ध रक्खेगा तो वह सदैव सहृदय बना रहेगा। उसके हृदय के सभी भाव जीवित रहेंगे और उपयुक्त अवसर पर जाग्रत भी हो जायँगे। इस प्रकार कविता मानव-जीवन की सहायता लेकर मनुष्य के हृदय के भावों को सुरक्षित रखती है, उनका परिष्कार करती रहती है और मनुष्य की मनुष्यता बनाए रखती है। कविता आचार को भी सुधारती है। उदाहरण के लिए 'रामचरित-मानस' नामक काव्य लीजिए। उसने कितने ही मनुष्यों के हृदय में पवित्रता का सञ्चार किया है, कितने ही कुमार्ग पर चलने वालों को सन्मार्ग पर लाया है, कितने ही डूबते हुए लोगों को बचाया है, कितने ही मनुष्यों को शिष्ट एवं सभ्य बनाया है।

अतः स्पष्ट है कि सभ्यता के विकास में काव्य का महत्वपूर्ण स्थान

है। पर मैकौले नामक एक अँगरेज विद्वान का कथन है कि सभ्यता के विकास के साथ काव्य का ह्रास होता है। यह कथन ठीक नहीं है। सभव है मैकौले महोदय बुद्धि के विकास मे, वैज्ञानिक आविष्कारो के कारण नए-नए परिवर्तनों में, सभ्यता का विकास देखते हो। निस्सदेह वैज्ञानिक ससार मे काव्य का ह्रास देखा जाता है, किन्तु वैज्ञानिक उन्नति के ही कारण कोई जाति सभ्य नहीं कही जा सकती। सभ्यता के लिए जैसा कि अभी कहा जा चुका है मनुष्यता की अत्यन्त आवश्यकता है, और मनुष्यता काव्य बिना नहीं प्राप्त की जा सकती। अतएव सचमुच सभ्य जाति मे काव्य की उन्नति ही देखने को मिलेगी, अवनति नही।

यह सच है कि जैसे-जैसे सभ्यता आगे बढ़ती जाती है वैसे वैसे विज्ञान की भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। बुद्धि विकसित होकर नई-नई वस्तुओ के आविष्कार और प्राचीन वस्तुओ के अन्वेषण में सलग्न होती है। वैज्ञानिक प्रत्येक सासारिक पदार्थ के मूल तक पहुँचना चाहते हैं। विज्ञान के आचार्य जगत के बाह्यरूप का विवेचन करते हैं। वे तर्क-पद्धति से वस्तुओं की वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करते हैं। जब तक वे तर्क की कसौटी पर किसी बात को नहीं कस लेते तब तक वे उसमे विश्वास नहीं करते। कविता और तर्क मे नहीं पटती। तर्क का सम्बन्ध मस्तिष्क से है और कविता का हृदय से। अतः कवि जो कुछ कहता है उसमे हृदय का व्यक्तीकरण रहता है, उसको सदैव तर्क की कसौटी पर नही कसा जा सकता। जो मनुष्य तर्क-प्रधान होगा वह कभी अच्छा कवि नहीं हो सकता। अच्छे कवि मे तो हृदय की प्रधानता होनी चाहिए, भावों की तत्परता होनी चाहिए। प्राय' देखा जाता है कि विज्ञान और काव्य साथ-साथ उन्नति नहीं कर सकते। एक ही मनुष्य वैज्ञानिक और कवि नहीं हो सकता। पर समाज या जाति के कल्याण के लिए जितनी विज्ञान की आवश्यकता है उससे कहीं अधिक काव्य की है। मनुष्यता जिसके अभाव मे मनुष्य

पशु से भी नीचे गिर जाता है काव्य बिना नही प्राप्त की जा सकती।

काव्य जीवन की व्याख्या होने के कारण सभ्यता के विकास मे सहायक होता है। इसमे सैकडो–हजारों वर्ष पहले के महानुभावों के जीवन–सम्बन्धी अनुभव सुरक्षित रहते हैं। उन अनुभवों की सहायता से हम अपना सुधार करके सभ्य बन सकते हैं। काव्य द्वारा हम अपने सकुचित क्षेत्र को छोड़कर समस्त जगत को अपना सम्बन्धी समझने लगते हैं। पशु, पक्षी, मनुष्य आदि जीवधारी ही नही फूल-पत्ती, पत्थर, नदी-नाले आदि निर्जीव वस्तुएँ भी हमारे घेरे के अन्दर आ जाती हैं। सब के साथ हमारा तादात्म्य भाव स्थापित हो जाता है।

काव्य समाज के दोषों का उद्घाटन करता है। मनुष्यो को उन दोषो के निराकरण के लिए उत्तेजित करता है। यदि किसी समाज में बाल-विवाह की कुरीति प्रचलित है तो काव्य इसके दुष्परिणाम दिखलाकर व्यक्तियो के हृदय मे इस कुप्रथा के प्रति द्वेष भाव उत्पन्न करेगा। इस प्रकार समाज मे परिष्कार करता हुआ वह जन-समुदाय का सदैव हित-साधन करता रहता है। निस्संदेह काव्य सभ्यता रूपी क्षेत्र को आलोकित करने वाला दीपक है।

प्रायः देखा जाता है जिन जातियो मे काव्य–रचना नही हुई वे आज भी असभ्य हैं। असभ्य जातियो मे ही काव्य का अभाव पाया जाता है। जो जाति जितनी ही अधिक सभ्य होगी उसका काव्य उतना ही उच्च कोटि का देखा जायगा। हमारे पूर्वज पूर्णतः सभ्य थे। यही कारण है कि हमारा प्राचीन काव्य संसार भर के काव्यों मे सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। कालिदास, वाल्मीकि, गोस्वामी तुलसीदास आदि की रचनाएँ ससार के देदीप्यमान रत्न हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव–सभ्यता के विकास में काव्य का महत्वपूर्ण स्थान है। काव्य से विमुख होकर कोई भी जाति सभ्यता की दौड़ मे आगे नहीं निकल सकती। चाहे कोई

जाति कितनी ही अधिक विद्वान क्यों न हो, कितनी ही अधिक बुद्धिमान क्यों न हो, उसने कितने ही अधिक वैज्ञानिक क्यो न उत्पन्न किए हो, पर यदि उसमे कवि नही हुए तो वह सभ्य नहीं कही जा सकती। भर्तृ-हरिजी उस मनुष्य को जो साहित्य (काव्य आदि) की कला से अनभिज्ञ है पशु कोटि में रखते हैं, उसे पूर्ण असभ्य समझते हैं। वे कहते है—

साहित्य संगीत कला विहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छविषाण हीन.।
तृण न खादन्नपि जीवमान
स्तद्भागधेय परमं पशूनाम्॥

कविता और मानव-जीवन

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—कविता और मानव-जीवन की घनिष्ठता

(२) कुछ लोगों के अनुसार कविता और जीवन में असम्बन्ध इस कथन की समीक्षा

(३) कविता का मानव-जीवन के विविध पहलुओं के प्रत्यक्षीकरण द्वारा मनुष्य-समाज के लिए सहानुभूति का द्वार खोलना

(४) भावों के परिष्कार और उद्बोधन के लिए कविता की आवश्यकता

(५) कविता का मनुष्य को कार्य में प्रवृत्त कराने वाली होना

(६) मनुष्य को सदाचारी बनाने में कविता का हाथ

(७) कविता द्वारा मनोरंजन का विधान और मनोरंजन का जीवन में महत्वपूर्ण स्थान

(८) उपसंहार—सारांश

"कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है।" यह वह साधन है जिसके द्वारा मानव-हृदय का सम्बन्ध मनुष्यों, जीवधारियों और प्रकृति की भिन्न-भिन्न वस्तुओं के साथ स्थापित किया जाता है। यों तो जड़-चेतन सभी कविता के क्षेत्र में अपना अस्तित्व रखते हैं, सभी का प्रतिपादन कविता करती है पर मानव-जीवन से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

कविता का उत्पादक मनुष्य स्वय होता है और कविता में वह

अपने जीवन-सम्बन्धी विचारों एवं अनुभवों का समाज को साक्षात्कार कराता है। जीवन की भिन्न-भिन्न समस्याओं का उद्घाटन और अनेक प्रकार की दशाओं का प्रत्यक्षीकरण ही वह अपनी कविता में किया करता है। अँगरेजी के समालोचक मैथ्यूआर्नल्ड ने कहा है—Poetry is at bottom a criticism of life अर्थात् कविता वास्तव में जीवन की आलोचना है।

पर कुछ लोग कहा करते हैं कि कविता का जीवन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। कविता की दुनिया पंच-भूतात्मक नहीं। उसका इस संसार से कुछ भी सरोकार नहीं। इस प्रकार वे कविता को जीवन से भिन्न करना चाहते हैं। इसका दुष्परिणाम यह हो रहा है कि कविगण अपनी कविता में जीवन को स्थान नहीं दे रहे हैं। उनकी रचनाएँ जीवन से उदासीन होने लगी हैं। अनूठी उक्तियाँ कह देना ही आजकल कविता समझा जारहा है। आजकल काव्य में जीवन की गंभीर समस्याओं का विवेचन न रहकर सूक्तियों का बोल बाला है। यह सब 'कला कला ही के लिए' 'अभिव्यंजनावाद' आदि वादों का प्रसाद है। पर ऐसे लोगों को, जो कविता का जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद करने के पक्षपाती हैं, यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि कविता जीवन से मुंह मोड़कर कविता नहीं बनी रह सकती, और चाहे जो कुछ बन जाय। इससे कविता का जो कुछ महत्व एवं सौन्दर्य है वह सब नष्ट हो जायगा। वह केवल वैचित्र्य-विधान का उपकरण मात्र रह जायगी। समाज को इससे बहुत हानि होगी।

कविता मानव-जीवन के विविध पहलुओं का प्रतिपादन करती हुई मनुष्य-समाज के लिए सहानुभूति का द्वार खोलती है। जब मनुष्य को शोक होता है तो वह 'रामचरितमानस' के विलाप करते हुए दशरथ को देखकर अपने हृदय को हलका करता है। जब मनुष्य पर आपत्ति आती है तब वह बन में बल्कल वस्त्र धारण किए पैदल जाते हुए राम को देखकर अपने दुःख को वैसा नहीं समझता। ग्लानियुक्त हृदय

भरत की आत्मग्लानि के दर्शन करके कुछ सान्त्वना पाता है। सैकड़ों बन्धु-बान्धव सहानुभूति दिखलाकर जो सान्त्वना नहीं प्रदान कर सकते उस सान्त्वना को कविता जीवन की ऊँचो-नीची दशाएँ दिखलाकर सहज मे दे सकती है। इसके अतिरिक्त मानव-जीवन से सम्बन्धित होने के कारण कविता मनुष्य-समाज के हृदय को भी अधिक विस्तृत करती है, सकुचित नहीं रखती। मनुष्य अपने पारिवारिक सकीर्ण घेरे से बाहर निकलकर ससार के अन्य मनुष्यो को भी अपने कुटुम्ब के ही अन्तर्गत समझने लगता है और उनके साथ सहानुभूति दिखलाने लगता है। इस प्रकार जो जीवन सहानुभूति के अभाव मे भार-स्वरूप एव कटु हो सकता है उसे कविता अपने माधुर्य द्वारा हरा-भरा कर देती है।

मानव-जीवन की मार्मिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराती हुई कविता मनुष्य के भावों को जीवित रखती है, उसके भूखे हृदय के लिए भोजन जुटाती है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य के कार्य भी जटिल एव अधिक हो गए हैं। मनुष्य दिन भर पेट की समस्या हल करने के लिए कुछ न कुछ कार्य करता ही देखा जाता है। एक मजदूर को देखिए जो प्रातःकाल से सायकाल तक पसीने मे तर हुआ इधर से उधर बोझा ढोता फिरता है, या एक किसान को देखिए जो सबेरे सूर्योदय के पूर्व ही खेत जोतने घर से बाहर निकल जाता है और सध्या के समय सूर्यास्त के पश्चात् घर लौटता है या एक दूकानदार को देखिए जो अपनी दूकान पर बैठा हुआ दिन भर सौदा बेचता रहता है। एक ही कार्य में सदैव सलग्न रहने के कारण मनुष्य का हृदय सकुचित हो जाता है। उसके हृदय के कई भाव, जिनकी आवश्यकता उसे अपने दैनिक जीवन मे कभी नहीं पड़ती, मर जाते हैं और फिर कभी यदि किसी अवसर पर उन भावों की आवश्यकता भी आ पड़ती है तो वे पुनः जीवित नही होते। यही कारण है कि रुपए-पैसे गिनते हुए लालाजी एक अपाहिज भूखी बुढिया की याचना को सुन कर टस से मस नही होते। उनके हृदय मे दया का भाव नही उदित

होता। हो भी कैसे? अपने दैनिक जीवन मे उनको कभी उस भाव की आवश्यकता ही नही हुई। अत. वह भाव उनके हृदय मे मर गया। हृदय के भिन्न-भिन्न भावो की रक्षा कविता ही द्वारा हो सकती है। मनुष्य के जीवन मे होनेवाली घटनाओं का, जिनमे विविध प्रकार के भाव मूल-रूप मे रहते हैं, आश्रय लेकर कविता मानव-हृदय को सजीव रखती है। उसके द्वारा भावो का व्यायाम होता रहता है। कोई कितना ही अधिक कार्य-भार से दबा रहता हो यदि वह कविता से सम्बन्ध रक्खेगा तो वह सर्वदा सहृदय बना रहेगा। उसके हृदय के सभी भाव जीवित रहेंगे और उपयुक्त अवसर पाकर जाग्रत हो जायँगे। इस प्रकार कविता मानव-जीवन की सहायता लेकर मनुष्य को पशु होने से बचा लेती है, क्योकि जिस मनुष्य का हृदय भाव-रहित है वह पशु के ही समान है। ऐसे मनुष्य के अस्तित्व से समाज को कोई लाभ नही पहुँचता।

मनुष्य को कार्य मे प्रवृत्त करानेवाली वृत्ति हृदय में रहती है। मस्तिष्क द्वारा किसी कार्य के गुण-दोष विचारकर हम उसमे सलग्न या उससे विरत नही होते। प्रायः देखा गया है कि मनुष्य एक कार्य को लाभदायक जानता हुआ भी उसे करने के लिए तैयार नहीं होता, क्योकि वह उसे अच्छा नहीं लगता, उसमे उसका हृदय योग नही देता। कर्म का सम्बन्ध मस्तिष्क से नहीं वरन् हृदय से है। यदि हृदय परिष्कृत होगा तो मनुष्य स्वभावतः अच्छे कार्य मे प्रवृत्त होगा। कविता जहाँ हृदय के भावो को जीवित रखती है वहाँ उन्हे परिष्कृत भी करती रहती है। अतः स्पष्ट है कि मनुष्य के व्यवहार-क्षेत्र मे भी कविता अपना स्थान रखती है।

मानव-जीवन को सदाचारी बनाने मे कविता का विशेष हाथ रहता है। जिस मनुष्य को सैकड़ो उपदेशक या सुधारक शुद्ध मार्ग पर नही ला सकते उस मनुष्य को कविता चरित्र-सौन्दर्य का साक्षात्कार कराके शुद्ध मार्ग पर ला सकती है। आज तक न जाने कितने दुष्ट

तथा दुराचारी गोस्वामी तुलसीदासजी का 'रामचरितमानस' पढकर या सुनकर सुधर गए हैं। गोस्वामीजी ने कविता द्वारा राम के आदर्श चरित्र का प्रतिपादन करके हिन्दू-जनता को सदाचार का पाठ पढाया है। गोस्वामीजी यदि राम के चरित्र-सौन्दर्य को गद्य मे जनता के सम्मुख रखते तो उस पर वैसा प्रभाव न पड़ता। कारण स्पष्ट है। कविता मे हृदय पर प्रभाव डालनेवाली जैसी शक्ति रहती है वैसी गद्य में कहाँ। कविता तो सीधी हृदय मे प्रवेश कर जाती है और उसे अपने वश मे कर लेती है। कुछ लोगो का कथन है कि कविता का आचार से सम्बन्ध होने से उसके सौन्दर्य मे कमी आ जाती है। अतः हमे कविता को आचार से पृथक् रखना चाहिए। पर यह विवाद ठीक नहीं प्रतीत होता। वास्तव मे कविता का सदाचार से मेल होने पर ही सोने मे सुगध हो जाती है। इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण गोस्वामी तुलसीदासजी की कविता है।

मानव-जीवन मे मनोरजन का महत्वपूर्ण स्थान है। मनोरजन के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के खेलो की रचना करता है। बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक मनुष्य सदैव मनोरंजन चाहता रहता है। जीवन के कटु अनुभव भी मनोरजन-सुधा का पान करते ही मधुर लगने लगते हैं। कविता मनोरजन का एक साधन है। उदासीनता के गर्त मे डूबे हुए हृदय को नारद-मोह का प्रसग सुना दीजिए और फिर देखिए उसकी उदासीनता कहाँ उड़ जाती है। वस्तुत. कविता के पढने या सुनने से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। तभी तो आचार्यों ने कविता के आनन्द को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा है। चाहे किसी रस की कविता क्यो न हो उससे आनन्द ही मिलेगा, मनोरजन ही होगा।

साराश यह है कि मानव-जीवन मे कविता का अत्यन्त महत्त्व है और दोनों मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तव में कविता का जन्म जीवन से

ही हुआ है और वह है भी जीवन के लिए ही। हडसन नामक एक अँगरेज समालोचक ने ठीक ही कहा है—

"Poetry is made out of life, belongs to life and exists for life" अर्थात् कविता का आविर्भाव जीवन से होता है, वह जीवन की वस्तु है और उसका अस्तित्व जीवन के लिए है।

भारतवर्ष में सह-शिक्षा

रूप-रेखा —

(१) प्रस्तावना—भारतवर्ष पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव
(२) शिक्षा का उद्देश्य—
  (क) शारीरिक विकास
  (ख) मानसिक विकास
  (ग) आत्मिक विकास
(३) इन दृष्टियों से सहशिक्षा की परीक्षा
(४) स्त्री और पुरुष के कार्य-क्षेत्रों की भिन्नता
(५) आर्थिक दृष्टि से सहशिक्षा का समर्थन
(६) सहशिक्षा द्वारा लड़के-लड़कियों का एक दूसरे को समझने लगना--इसकी समीक्षा
(७) उपसंहार--सहशिक्षा का भारत के लिए अत्यन्त हानिकर होना

पाश्चात्य सभ्यता के झोंकों से आज भी हमारा देश भली भाँति प्रभावित हो रहा है। शिक्षित-समुदाय इसी सभ्यता-देवी की आराधना में संलग्न है। न जाने इसने क्या जादू डाल दिया है कि शिक्षित भारतीय इसी को सर्वश्रेष्ठ एवं आदर्श मानते हैं और इसी का अनुकरण करने में अपना गौरव समझते हैं। हाँ, इधर कुछ समय से विशेष शक्ति-सम्पन्न आत्माओं के आविर्भाव से देश में राजनैतिक तथा सामाजिक जागृति हुई है और उसके साथ-साथ हमारी गौरवपूर्ण प्राचीन संस्कृति का भी पुनरुत्थान हुआ है, परन्तु देश के अधिकांश व्यक्ति पाश्चात्य सभ्यता

के ही पृष्ठपोषक और अधानुक्त हैं। वे भारतीय शिक्षा–पद्धति मे भी पाश्चात्य देशो की शिक्षा के आधार पर परिवर्तन करते रहते हैं। कुछ दिनों से शिक्षा के क्षेत्र मे सहशिक्षा की दुन्दुभी बज रही है। परन्तु क्या इस प्रकार की शिक्षा हमारी मर्यादा की रक्षा करेगी ? क्या यह देश की भावी–उन्नति का मार्ग प्रशस्त करेगी ?

विषय मे प्रविष्ट होने के पूर्व हमे शिक्षा का उद्देश्य समझ लेना नितान्त आवश्यक है। शिक्षा का लक्ष्य विद्यार्थी का शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास है। जीवन का साफल्य शरीर, मन और आत्मा के विकास मे ही है। इन तीनो मे से हम किसी अग की भी अवहेलना नही कर सकते। अतः कोई भी शिक्षा–पद्धति जो इन तीनो अगों की समुचित उन्नति नहीं करती त्याज्य है। कुछ लोगो की धारणा है कि शिक्षा का ध्येय मानसिक विकास है, शारीरिक अथवा आत्मिक नहीं। परन्तु उस शिक्षा से लाभ ही क्या जो मस्तिष्क और मन को तो विकसित करती है परन्तु शरीर और आत्मा की उपेक्षा करती है ? वस्तुतः बिना शारीरिक स्वास्थ्य के मानसिक शक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। शरीर और मस्तिष्क मे घनिष्ठ सम्बन्ध है जैसा कि 'Sound mind in a sound body' (स्वस्थ शरीर मे ही उत्तम मस्तिष्क पाया जाता है) उक्ति से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त हम आत्मा को भी नहीं छोड़ सकते। इस सम्बन्ध मे टॉड (Todd) नामक एक अँगरेज कहता है—

The object of education is to enable the soul to fulfil her duties well here, and to stand on high vantage-ground when she leaves this cradle of her being for her eternal existence beyond the grave. अर्थात् शिक्षा का ध्येय आत्मा को ससार में अपने कर्त्तव्य सुचारु रूप से पालन करने के योग्य बना देना और उसे जब वह मृत्यु के अनन्तर अपने अस्तित्व के पालने को छोड़कर

सनातन जीवन के लिए प्रस्थान करती है उत्कृष्ट पद पर आसीन कर देना है।

विद्यार्थी-जीवन मे मनुष्य जो अच्छी अथवा बुरी बातें सीख लेता है वे आजन्म उसकी सगिनी रहती हैं। उस अवस्था में वह उस कच्चे घडे के तुल्य होता है जिस पर कैसा ही चिन्ह बनाया जा सकता है। पक जाने पर घड़े पर से चिन्ह मिटाए नही मिट सकता और न कोई चिन्ह आसानी से बनाया ही जा सकता है। उसी प्रकार उसका स्वभाव अथवा आचरण परिवर्तित नही किया जा सकता। अतः आत्मोन्नति रूपी स्वर्ग के लिए विद्यार्थी-जीवन एक सुदृढ़ सोपान है। आत्मा की उत्तरोत्तर उन्नति मे ही मानव-जीवन का साफल्य है। अत-एव वह शिक्षा जो आत्मा की उन्नति मे सहायक नही वस्तुतः शिक्षा नहीं है। वह शिक्षा जिससे विद्यार्थियो का चरित्र न बने, प्रत्युत उनका नैतिक पतन हो गर्हित और परित्याज्य है। अतः स्पष्ट है कि वही शिक्षा वास्तविक शिक्षा है जिससे विद्यार्थियो का शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उत्थान हो। वही शिक्षा कल्याणकारी है जो शरीर मस्तिष्क और आत्मा तीनों का सामूहिक विकास करती है।

क्या सह-शिक्षा पुरुप नथा स्त्री के शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास मे सहायक हो सकती है? पहले शरीर को लीजिए। स्वास्थ्य की दृष्टि से सह-शिक्षा की कोई उपयोगिता नही, प्रत्युत वह कुछ अशो मे हानिकर है। प्रकृति ने पुरुष को कठोर और स्त्री को कोमलागी बनाया है। अत. स्त्री-पुरुष समान खेलो मे भाग नही ले सकते। पुरुष ऐसे खेलो मे भाग लेने के सर्वथा समर्थ है जिनमे अधिक परिश्रम, कठोरता एव शारीरिक शक्ति वाछनीय है, परन्तु स्त्री इस प्रकार के खेल खेलने मे असमर्थ है। लड़कियो के लिए फुटबॉल खेलना, हॉकी खेलना, उछलना, कूदना आदि हानिकर हैं। उछलने-कूदने से उन्हे कई रोग हो जाते है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के खेलो से स्त्री-सुलभ कोमल वृत्ति का भी हनन होता है। कठोर वृत्ति वाले लड़कों के

साथ कठोर खेल खेलने के कारण उनका कठोर हो जाना सभव है जो गार्हस्थ्य जीवन की दृष्टि से अवाञ्छनीय है। भविष्य मे जब वे कठोर-हृदया लड़कियाँ माताएँ बनेगी तब वे अपनी सतान का किस प्रकार पालन-पोषण कर सकेगी? कहना नही होगा कि माता के लिए कोमलता, सहन-शक्ति आदि गुणो की नितान्त आवश्यकता है। कुछ लोग कह सकते हैं कि लडके और लडकियाँ एक साथ ऐसे खेल क्यो न खेले जिनमे अधिक शारीरिक शक्ति की आवश्यकता न हो और न जिनमे उछलना-कूदना पडे। जैसे टैनिस, बैडमिटन आदि। उत्तर मे यही कहना होगा कि प्रकृति ने पुरुष और स्त्री की भिन्न-भिन्न प्रकार की रचना की है। उनके कार्य-क्षेत्र भी विभिन्न हैं। पुरुष को स्त्री की अपेक्षा अधिक शारीरिक शक्ति की आवश्यकता है। टैनिस और बैडमिंटन सरीखे खेलों से स्त्री के शरीर का भले ही व्यायाम हो जाय पर पुरुष के शरीर का समुचित व्यायाम नहीं हो सकता। अतः पुरुष और स्त्री के खेल समान नहीं हो सकते। इस प्रकार सह-शिक्षा शारीरिक विकास मे सहायक न होकर उसमे व्याघात उपस्थित करेगी।

हाँ, मस्तिष्क की उन्नति की दृष्टि से सह-शिक्षा किसी प्रकार बुरी नहीं।

आत्मिक विकास मे अवश्य सह-शिक्षा विघ्न डालती है। नैतिक दृष्टि से बालको को १० या १२ वर्ष की आयु तक सह-शिक्षा प्रदान करने मे कोई हानि नही है। परन्तु दाम्पत्य भाव के उदय होने पर इस प्रकार की शिक्षा वर्जनीय है, क्योंकि इसमे व्यभिचार को उत्तेजना मिलेगी। युवावस्था मे उद्दीपन होना सरल है। यह वह समय है जब बुद्धि रागो से प्रायः आक्रान्त रहती है। अतः युवकों और युवतियों का एक साथ रहकर अपनी रक्षा करना दुर्लभ है। प्रायः उनका पतन हो ही जाता है। वस्तुतः प्रलोभनो के आ उपस्थित होने पर उनसे बचना टेढी खीर है। कहा भी है—

> काजर की कोठरी मे कैसो हू सयानो जाय,
> एक लीक काजर की लागि है पै लागि है।

इसलिए सह–शिक्षा द्वारा इस प्रकार का दूषित वातावरण ही क्यों पैदा किया जाय कि हमारे नवयुवक तथा नवयुवतियाँ अपना नैतिक पतन कर बैठे ? यद्यपि हमारे देश में अभी कहीं-कहीं सह–शिक्षा का प्रारम्भ हुआ है तथापि बहुत सी घृणित घटनाएँ सुनी जा रही हैं। पाश्चात्य देशों का तो कहना ही क्या, वहाँ की सह–शिक्षा के दुष्परिणामों से कोई भारतीय अनभिज्ञ नहीं। वहाँ के शिक्षा–केन्द्रो में व्यभिचार का बाजार गरम है। पर वहाँ वाले उसे व्यभिचार नहीं समझते। अविवाहित स्त्री का अविवाहित पुरुष के साथ सम्बन्ध वहाँ नैतिक दृष्टि से बुरा नही माना जाता। वहाँ की स्त्रियाँ विवाह से पूर्व न जाने कितने पुरुषों से कोर्टशिप नही करतीं। क्या यह लज्जा की बात नहीं है ? क्या पाश्चात्य स्त्री–समाज की यही पवित्रता है ? क्या सभ्यता का राग अलापने वाली पाश्चात्य जातियों मे स्त्रियाँ इसी प्रकार अपने अधिकारो का सदुपयोग कर रही हैं ? हमारे यहाँ अविवाहित स्त्री और पुरुष का पारस्परिक सम्बन्ध अक्षम्य है। विवाहित पुरुष को पत्नीव्रत तथा विवाहित स्त्री को पतिव्रता होना हिन्दू-सस्कृति के आदर्शानुसार है। हमारे यहाँ तो स्वप्न मे भी परपुरुष या परनारी का चिन्तन हेय समझा जाता है। देखिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने 'रामचरितमानस' मे इस आदर्श को राम के मुख से किस प्रकार कहलाया है—

मोहि अतिशय प्रतीति मन केरी।
जेहि सपनेहु परनारि न हेरी॥

कुछ लोग कह दिया करते हैं कि यदि सह-शिक्षा द्वारा इस प्रकार का व्यभिचार–पूर्ण वातावरण पैदा हो जाता है तो इसमे बुरा क्या है ? हमे अपने नव-युवक और नवयुवतियों को स्वतन्त्रता देनी चाहिए। वे जैसा ठीक समझें वैसा करे। जिसको चाहे अपना जीवन-साथी चुने। नीति का ऐसा नियन्त्रण जब अन्य देशो मे नही पाया जाता तो उसका इतना ध्यान भारतवर्ष में ही क्यो रक्खा जाता है ? इस विवाद का हमारे

पास तो यही उत्तर है कि इस प्रकार की स्वतत्रता समाज को हितकर नहीं हो सकती। भारतवर्ष सदैव से सदाचारी एव मर्यादा-भक्त रहा है और हमारी समझ मे उसका ऐसा बना रहना ही श्रेष्ठ है। जिस देश में, जिस समाज मे, नीति का, आचारो का, आदर नही वह अवश्य किसी न किसी दिन संसार से मिट जायगा।

स्त्री और पुरुष के कार्य-क्षेत्र पृथक् हैं। स्त्री का क्षेत्र गृह है और पुरुष का ससार। गृह की स्वामिनी स्त्री होती है और सासारिक क्षेत्र का स्वामी पुरुष होता है। गृह के सभी कार्य—गृहस्थी का सचालन, बालकों का पालन-पोषण, भोजनादि की व्यवस्था इत्यादि—स्त्रियों के करने के हैं। पुरुष के कार्य जीविकोपार्जन, सतान-शिक्षा, देश-सेवा, समाज-सेवा आदि हैं। इस प्रकार पूर्वजो ने स्त्री-पुरुष के कार्यों का विभाजन किया है। अतः लड़कियो को इस प्रकार की शिक्षा मिलनी चाहिए जो उनके कार्यों में सहायक हो सके और लड़कों को भी उनके कार्यों मे योग देने वाली शिक्षा मिलनी चाहिए। जब दोनो के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं, तब यह कब सभव है कि सह-शिक्षा द्वारा लड़के-लड़कियो को समान रूप से शिक्षित करके भावी नागरिक बनाया जा सके? कांग्रेस नेता श्रीयुत् भूलाभाई देसाई ने एक बार ठीक ही कहा था—"लड़कियो के लिए अलग शिक्षणालयो की इसलिए आवश्यकता नही कि वे लड़कों का मुक़ाबिला नहीं कर सकतीं, बरन् इसलिए कि लड़की लड़के से भिन्न है। प्रकृति उसे लड़के से भिन्न रखना चाहती है, और इस कारण उसके शारीरिक, मानसिक और सामाजिक गुणों की सर्वोत्तम सस्कृति और पूर्णतम विकास के लिए उसे विभिन्न परिस्थिति मे रखना आवश्यक है। × × × × लड़कियो के लिए सगीत, बुनाई, गृह-प्रबन्ध, शिशुमनोविज्ञान, समाज-शास्त्र प्रभृति जिन विशेष विषयो के पढ़ाने की आवश्यकता है उनका समुचित प्रबन्ध लड़कों के शिक्षणालयो मे नहीं हो सकता।" शायद पाश्चात्य सभ्यता के पुजारी इस विचार से सहमत न होंगे। वे कहेंगे कि स्त्री का कार्य-क्षेत्र गृह

ही क्यों माना जाय ? क्या गृह के कार्यों को एक दासी नहीं कर सकती ? उनके अनुसार स्त्रियो का कर्तव्य पुरुषो के प्रत्येक कार्य में हाथ बटाना है। इस सम्बन्ध में हमे यही कहना है कि मनुष्य-समाज का कल्याण स्त्री को गृह-स्वामिनी बनाने मे ही है। गृह के आन्तरिक कार्य सासारिक कार्यों से कुछ कम महत्व के नही हैं। कुछ अशों में वे सांसारिक कार्यों से भी अधिक महत्व के हैं। अशिक्षिता तथा असंकृत दासी उनको सुचारु रूप से करने में असमर्थ है। इसके अतिरिक्त अपना कार्य अपने हाथों से ही अच्छा हो सकता है। क्या दासी द्वारा पाले गए बालकों पर मातृ-शिक्षा और सस्कृति का कुछ भी प्रभाव पड़ सकता है ? कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि अवकाश मिलने पर भी स्त्रियाँ गृह-कार्यों के अतिरिक्त कोई कार्य न करे। वे अवकाशानुसार पुरुषों के कार्यों में भी हाथ बटा सकती हैं। घर के काम-काजो से छुट्टी पाते ही वे देश तथा समाज के कार्यों में भाग ले सकती हैं, पति को जीविकोपार्जन मे सहायता दे सकती हैं। पर उनका प्रधान क्षेत्र गृह ही है। अन्य कार्य उनके लिए गौण हैं। अतः गृह को ही केन्द्र मानकर स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा का विधान होना चाहिए।

कुछ लोग कहते हैं कि भारतवर्ष की वर्तमान आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है कि हम लड़को एवं लड़कियो के लिए पृथक् पृथक् विद्यालय खोल सकें। यह कथन ठीक हो सकता है। पर यदि प्रयत्न किया जाय तो यह कार्य ऐसा नही है जो न हो सके। आर्थिक स्थिति उतने महत्व की वस्तु नहीं है जितना कि हमारे बालकों और बालिकाओं का भावी जीवन। यदि हम इस बात का अनुभव करते हैं कि सह-शिक्षा द्वारा अच्छे नागरिक नहीं पैदा किए जा सकते तो हमें चाहिए कि हम स्त्री और पुरुषों के लिए पृथक् पृथक् विद्यालय स्थापित करें और व्यय के लिए प्रबन्ध करें।

सह-शिक्षा के पक्ष में प्रायः यह कहा जाता है कि लड़के-लड़कियाँ विद्यालय में साथ-साथ रहकर एक दूसरे के हृदय का, मन का, अध्ययन

करने का अच्छा अवसर पाते हैं जो आगे चलकर उनके जीवन मे बडे महत्व का साबित होता है। लड़की लड़के को समझने लगती है और लड़का लड़की को। विवाह के समय स्त्री पुरुष की प्रकृति को जानती है और पुरुष स्त्री की प्रकृति को। अतः दोनो का जीवन सुख से व्यतीत होता है। ठीक है। पर क्या सह-शिक्षा द्वारा ही इस कार्य का सम्पादन किया जा सकता है? घर मे लड़कियाँ अपने भाई, पिता, चाचा आदि के ससर्ग में रहकर पुरुष-जाति की प्रकृति का अच्छा अध्ययन कर सकती हैं। उसी प्रकार लड़का भी बहिन, भाभी, चाची, मातादि के साथ रहकर स्त्री—जाति की प्रकृति का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। तब समझ में नही आता कि सह-शिक्षा से ही इस कार्य का होना क्यों बतलाया जाता है?

वास्तव में सह-शिक्षा भारतवर्ष मे कभी कल्याणकर नही हो सकती। अन्य देशों मे जहाँ इसका प्रचलन है वहाँ यह प्रायः असफल रही है। जर्मनी और इटली में इस पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए हैं। जिस भारतवर्ष में अनेक कुरीतियाँ प्रचलित हैं उस भारतवर्ष में सह-शिक्षा का प्रचार उसकी दशा ठीक उस मनुष्य की सी कर देगा जिसका गोस्वामीजी ने इस प्रकार वर्णन किया है—

ग्रह ग्रहीत पुनि बात वश, तेहि पर बीछी मार।
ताहि पिआइअ वारुनी, कहहु कवन उपचार ॥

हिन्दी-काव्य में करुण रस

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—जगत की घटनाओं का चित्त पर प्रभाव ; करुणा का जीवन में महत्व

(२) काव्य का आदि करुण रस से होना

(३) हिंदी-काव्य के भक्ति-काल में करुण रस की रचनाएँ—

(क) तुलसी का करुण-रस

(ख) सूर का ,, ,,

(ग) जायसी का ,, ,,

(घ) केशव का ,, ,,

(४) आधुनिक काल में करुण रस की कविताएँ—

(क) भारतेन्दुजी का करुण रस

(ख) मैथिलीशरण का ,, ,,

(ग) जयशंकर 'प्रसाद' का करुण रस

(घ) सुमित्रानंदन पंत ,, ,, ,,

(ङ) महादेवी वर्मा ,, ,, ,,

(च) माखनलाल चतुर्वेदीका ,, ,,

(छ) सत्यनारायण का ,, ,,

(ज) सुभद्राकुमारी चौहान का ,, ,,

(झ) कौशलेन्द्र का ,, ,,

(५) उपसंहार—करुण रस द्वारा शीघ्र उन्नति की संभावना

सिनेमा के चित्रपट की भाँति वाह्य जगत की घटनाएँ चित्त पर अंकित हुआ करती हैं और उनके विविध प्रभाव उस पर निरतर पड़ा करते हैं। इन्हीं के कारण मानव-प्रकृति में सदैव परिवर्तन हुआ

करता है। कभी मनुष्य आनन्दित होता है, कभी दुःखी। कभी वह प्रेम से अभिभूत होता है, कभी वह क्रुद्ध होकर दुष्टों को तलवार के घाट उतारता है। इस प्रकार मानव-हृदय-सागर मे अनेको भाव-तरगे उठा करती हैं। मानव-जीवन में दुःख और सुख की अनुभूति प्रभावशालिनी एव महत्वपूर्ण होती है। सुख मे हम इतराने लगते हैं और दुःख में डूबने। सुख मे हम मदान्ध हो जाते हैं और दुःख मे दीन। सुख मे हम जीवन का बाह्य रूप देख पाते हैं, परन्तु दुःख मे हमे उसके आन्तरिक रूप के दर्शन होते हैं। हृदय-तन्त्री से वेदना का गम्भीर एव प्रभावशाली राग निकलता है और उल्लास का हलका एव क्षणिक। कतिपय आचार्यों ने शृङ्गार रस को भले ही रसराज कहा हो पर करुण रस के समान उसमें गभीरता नहीं होती। करुणा जीवन का ठोस सगीत है। करुण रस के महत्व को स्वीकार करते हुए भवभूति कहते हैं—

एकोरसः करुण एव निमित्त भेदादि्भन्नः
पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त्त बुद्बुदतरङ्गमयान् विकारा—
नम्भो यथा सलिलमेव तुत्समग्रम्॥

काव्य का आदि ही करुण रस से हुआ है। वाल्मीकिजी ने व्याध द्वारा क्रौंच पक्षी के वध किए जाने पर उसकी मादा की कारुण्यपूर्ण चीत्कार से व्यथित होकर यह श्लोक कहा—

मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काम-मोहितम्॥

हिन्दी-काव्य में करुण रस की पर्याप्त रचनाएँ मिलती हैं। हाँ, प्राचीन काव्य मे उतनी नहीं मिलती जितनी आधुनिक काव्य में। पहले प्राचीन काव्य को लीजिए। वीरगाथा-काल में तो करुण रस पर कोई रचना नहीं हुई। भक्ति-काल में अवश्य कुछ कविताएँ मिलती हैं जो करुण रस से भरी हुई हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से सभी रसों का सन्निवेश अपनी रचनाओं में किया

है। सभी रसों के क्षेत्रों में उनकी कीर्ति-पताका भगवती वीणा-पाणि के उच्चतम कर कमलों में विद्यमान है। देखिए आपका करुण रस-समुद्र किस सरसता से तरंगित है—

करि विलाप सब रोवहिं रानी।
महा विपति किमि जाइ बखानी॥
सुनि विलाप दुख हू दुख लागा।
धीरज हू कर धीरज भागा॥ (रामचरितमानस)

अयोध्या के इस कारुण्यपूर्ण दृश्य को देखकर किसका हृदय करुणार्द्र नहीं होगा?

लक्ष्मणजी शक्ति लगने के कारण मूर्च्छित होगए हैं। देखिए रामचन्द्रजी का दुःसह विलाप कैसा हृदय विदारक है—

मेरो सब पुरषारथ थाको।
विपति बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको?
सुनु सुग्रीव साँचेहू मोपर फेर्‌यो बदन विधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लषन सो भ्राता॥
गिरि कानन जैहैं शाखामृग हौं पुनि अनुज संघाती।
ह्वै है कहा बिभीषन की गति, रही सोच भरि छाती॥
(गीतावली)

सूरदासजी ने यद्यपि अपने काव्य में वात्सल्य रस और शृङ्गार रस का ही समावेश किया है तथापि यत्र-तत्र उसमें करुण रस का पुट मिलता है। प्रिय के कुछ समय के लिए बिछुड़ने से जो दुःख या रंज हो वह विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत आता है। पर प्रिय के अनिष्ट या अनिष्ट की आशंका के कारण जो शोक हो वह करुण रस के अन्दर स्थान पाता है। देखिए यहाँ पर यशोदाजी कंस द्वारा कृष्ण के बुलाए जाने पर अनिष्ट की आशंका करती हुई अत्यन्त दुःखी हैं—

यशोदा बार बार यों भाखै।
है कोऊ ब्रज हितू हमारो चलत गोपालहिं राखै॥

कहा काज मेरे छगन मगन को नृप मधुपुरी बुलायौ।
सुफलक सुत मेरे प्राण हनन को कालरूप इत आयौ॥

जायसी के 'पद्मावत' मे भी दो चार ऐसे स्थल हैं जहाँ पर करुण रस के स्रोते बहते हुए मिलते हैं। रत्नसेन के जोगी होने पर रानियाँ कैसे फूट-फूट कर रोती हैं, देखिए—

रोवहिं रानी तजहिं पराना।
नोचहि बार करहिं खरिहाना॥
चूरहि गिउ-अभरन उर हारा।
अब का पर हम करहिं सिंगारा॥

करुणा का जीता जागता चित्र है। बालों का नोंचना, आभूषणो का चूर्ण करना, हार्दिक वेदना की पराकाष्ठा दिखलाता है।

केशव की 'रामचद्रिका' मे भी रामचद्रजी की कथा होने के कारण करुण रस की सामग्री का अभाव नहीं। दशरथ-मरण और लक्ष्मणजी के शक्ति लगना ये दो स्थल तो प्रधान हैं ही। पर केशव का करुण रस उतना मार्मिक एव हृदयग्राही नहीं जितना गोस्वामीजी का है। लक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर रामचन्द्रजी का विलाप देखिए—

लोचन बाहु तुही धनु मेरौ।
तू बल विक्रम, बारक हेरौ॥
तो बिन हौ पल प्रान न राखौ।
सत्य कहौ कछु झूठ न भाखौ॥

रीतिकाल मे आकर करुण रस की सरिता सूख गई। कविगण विलासप्रिय राजा-महाराजाओं की वासना की परितृप्ति के लिए कलुषित प्रेम की उद्भावनाएँ करने लगे। शृङ्गार रस ने करुण रस को काव्य-क्षेत्र से निकाल बाहर किया।

आधुनिक काल मे तो शोक का समुद्र बेतरह उमड़ा हुआ है। भारतेन्दुजी ने अपनी अलौकिक प्रतिभा से रीतिकाल की कविता के गंदे प्रवाह को रोककर देश में देश-भक्ति और समाज-सुधार की सुरसरी प्रवा-

हित की। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी-कविता में क्रान्ति उपस्थित कर दी। तभी से करुण रस-प्रधान रचनाओं के ढेर लगने लगे। आज हम पराधीन हैं। हमे पद-पद पर विदेशियो द्वारा अपमानित होना पड़ता है। फिर मामाजिक कुरीतियाँ तथा देश की आर्थिक दशा प्रत्येक हृदय को क्षुभित करती हैं। यही कारण है कि आधुनिक काव्य-वनस्थली में चारों ओर करुण रस-पुष्प ही दिखलाई देते हैं। भारतेन्दुजी के 'भारतदुर्दशा' और 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटकों को ही पढ़िए, करुण रस की तरगिनी बेतरह उमडती हुई पाइएगा। 'भारत दुर्दशा' से एक नमूना देखिए—

रोवहु सब मिलि के आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

'सत्यहरिश्चन्द्र' मे आदि से अत तक करुण रस का ही साम्राज्य है। रोहिताश्व की मृत्यु पर शैव्या का क्रन्दन हृदय को चीरनेवाला है। वहाँ शोक की पराकाष्ठा हो जाती है। देखिए हरिश्चन्द्र इस स्थान पर अपने प्राणप्रिय वत्स रोहिताश्व के दुःखों का स्मरण करके कैसा विलाप करते हैं—

जेहि सहसन परिचारिका, राखत हाथहि हाथ।
सो तुम लोटत धूर में, दास बालकन साथ॥
जाकी आयसु जग नृपति सुनतहि धारत शीस।
तेहि द्विज बहु आज्ञा करत, अहह कठिन अति ईश।
बिनु तन बेचे बिन दिये, बिनु जग ज्ञान विवेक।
देव सर्प दंशित भये, भोगत कष्ट अनेक॥

मैथिलीशरणजी गुप्त की कृतियो में—प्रधानतः 'जयद्रथ-वध' और 'भारत-भारती' मे—करुण रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। गुप्तजी करुण रस के चित्रण मे सिद्धहस्त हैं। सुभद्रा का लाल अभिमन्यु युद्ध में वीर-गति प्राप्त करता है। उसका क्षत-विक्षत शरीर उसकी पत्नी उत्तरा के अक में रक्खा है और वह फूट-फूट कर रो रही है—

हा ! आज तुम मुझ किङ्करी को कौन से अपराध में—
हे नाथ ! तजते हो यहाँ तुम शोक–सिंधु अगाध में ?
तज दो भले ही तुम मुझे, मैं नहीं तज सकती तुम्हें,
वह थल कहाँ पर है जहाँ प्रिय मैं न भज सकती तुम्हे ?

\+ + + +

फिर पीट कर सिर और छाती अश्रु बरसाती हुई,
कुररी–सदृश सकरुण गिरा से दैन्य दरसाती हुई।

यह है मूर्तिमान करुण रस। अभिमन्यु के देहान्त पर उत्तरा छटपटा रही है। पाठक का हृदय इन करुणोद्गारो को पढकर उमड़ आता है और अश्रु बरबस निकल ही पड़ते हैं। मरते समय अभिमन्यु का यह कथन—

हे तात ! हे मातुल ! जहाँ हो है प्रणाम तुम्हे वहीं,
अभिमन्यु का इस भाँति मरना भूल मत जाना कहीं।

कितना मर्मस्पर्शी, कितना हृदय हिला देने वाला है ! कौन भूल सकता है ऐसी मृत्यु को ? 'भारत-भारती' मे देश की दीन–हीन दशा का वर्णन है जो करुणा से परिपूर्ण है। गुप्तजी की 'यशोधरा' से करुण रस का यह चित्र लीजिए—

अबला–जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी।
अंचल मे है दूध और आँखो में पानी ॥

श्री जयशकर 'प्रसाद' के काव्य मे भी करुणा की, वेदना की, प्रचुरता है। उनकी कविता को पढ़कर पाठक मूक वेदनां मे मग्न हो जाता है। 'आँसू' शीर्षक कविता में वेदना का साम्राज्य है, देखिए—

इस करुणा–कलित हृदय में,
क्यों विकल रागिनी बजती ?
क्यों हाहाकर स्वरों में,
वेदना असीम गरजती ?

उनकी वेदना में रागिनी बजती है। एक स्थान पर वे लिखते हैं—

जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तिष्क में स्मृति सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बन कर वह आज बरसने आई॥

प० सुमित्रानदन पत की कविता मे नैराश्यजनित विषाद की व्यंजना पाई जाती है। पतजी कविता की रचना के लिए दुःखवाद की आवश्यकता मानते हैं। वे कहते हैं—

कल्पना मे है कसकती वेदना,
अश्रु में जीता सिसकता गान है।
शून्य आहो मे सुरीले छंद हैं,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है।
वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान।

एक स्थान पर तो पतजी यहाँ तक कह जाते हैं कि बिना दुःख के जीवन सरस नहीं हो सकता। देखिए—

विना दुःख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार।

श्रीमती महादेवी वर्मा की कविता भी करुणा-रस से ओत-प्रोत पाई जाती है। आपका दुःख विश्वव्यापी है, वही आपका सर्वस्व है—

मेरी आहे सोती हैं,
इन ओठों की ओटों में।
मेरा सर्वस्व छिपा है,
इन दीवानी चोटों में।

प० माखनलाल चतुर्वेदी की भी कुछ कविताएँ करुणा-रस से भरी हुई होती हैं। देखिए—

जम्बुकेश! चलो,—जहाँ सहार है।
बन्य पशुओं का लगा बाजार है॥

आज सारी, रात कूकेंगे वही।
मोम–दीपो का मरण त्यौहार है॥

इसमे कितनी करुणा, कितनी वेदना भरी है!

सत्यनारायणजी का तो जीवन ही करुणामय था। यह कटीली झाड़ी मे उत्पन्न हुआ पुष्प अध–खिला ही मुरझा गया। साँस की बीमारी से क्षुभित होकर उन्होने एक स्थल पर कहा है—

बस अब नहिं जाति सही।
विपुल वेदना विविध भाँति
जो तन मन व्यापि रही॥

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की 'जालियाँवाले बाग में बसत' शीर्षक कविता पढकर हृदय मे हूक उठती है। देखिए––

परिमल–हीन पराग दाग़ सा बना पड़ा है।
हा! यह प्यारा बाग़ खून से सना पड़ा है॥
आओ प्रिय ऋतुराज किन्तु धीरे से आना।
यह है शोक स्थान यहाँ मत शोर मचाना॥

'कौशलेन्द्रजी' तो साक्षात करुण रस के अवतार थे। अभाग्यवश वे अधिक दिन जीवित न रह सके, अन्यथा वे निर्विवाद करुण रस के सर्वश्रेष्ठ कवि होते। उनका करुणा-चित्रण हृदय मे कसक पैदा कर देता है। उसमे एक मरोड़–विशेष रहती है। उनकी 'मरणोन्मुखी शीर्षक रचना करुणा–सागर का बहुमूल्य रत्न है। देखिए उसकी कुछ पंक्तियाँ—

'कौशलेन्द्र' सुख से मैं मरती हूँ प्रेमधन!
मेरी याद करके कभी न खिन्न होना तुम।
लीजिए प्रणाम, गुरुजन सामने हैं, हाय—,
लाज धुल जायगी, न मेरे लिए रोना तुम।

'बधिक से' शीर्षक रचना की भी कुछ पक्तियाँ देखिए—

मरते सभी हैं हमें डर मरने का नही,
मार कर हमको न आप कुछ पाएँगे।
होगा अपकार रम जायगा कुरङ्ग-कुल,
जग मे कभी न तुम्हे भोले पतिआएँगे।
'कौशलेन्द्र' हमे बस शोक इतना है, जब-,
प्यारे मृग खोज मे हमारी यहाँ आएँगे,
सूनी विपिनस्थली विलोकि दूनी होगी व्यथा,
उर भर आएँगे, नयन झर लाएँगे।

साराश यह है कि हिन्दी काव्य मे करुण रस की अनुपम विभूतियाँ विद्यमान हैं। वस्तुतः करुण रस का प्रभाव गंभीर और स्थायी होता है, उससे हमारी कोमल वृत्तियाँ एकदम जाग्रत हो जाती हैं। वर्तमान काल मे करुण रस-प्रधान काव्य द्वारा हमारी उन्नति बहुत शीघ्र हो सकती है। देश की पराधीनता, सामाजिक पतन, शोचनीय आर्थिक दशा आदि विषयों पर उपदेश या व्याख्यान देकर जो जागृति देश में कई वर्षों मे सभव होगी वह करुण रस की कविताओं द्वारा शीघ्र हो सकेगी, इसमे सदेह नहीं।

साहित्य का समाज पर प्रभाव

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—साहित्य का लक्षण

(२) बाल्यावस्था से ही मनुष्य का साहित्य से प्रभावित होना

(३) साहित्य के बिना मस्तिष्क का विकास न होना

(४) संसार के इतिहास का इस बात का साक्षी होना कि साहित्य ने समाज में बड़े-बड़े परिवर्तन किए हैं

(५) भारतवर्ष का उदाहरण—

(क) साहित्य की धार्मिकता का समाज को धार्मिक बनाना

(ख) साहित्य के आदर्शवाद का महान आत्माओं को जन्म देना

(ग) साहित्य मे वीर रस और देशभक्ति की रचनाओं के अभाव से हमारा पराधीन होना

(घ) शृङ्गारी रचनाओं से विलासिता और अकर्मण्यता फैलना

(६) उपसंहार—सारांश

साहित्य किसी जाति के महानुभावो के विचारो, भावनाओं और अनुभवो का लिखित भडार है। जिस प्रकार मस्तिष्क में मनुष्य के अनुभव संचित रहते हैं, उसी प्रकार साहित्य मे मनुष्य–समाज के अनुभव एकत्रित रहते हैं। वर्सफोल्ड नामक एक अँगरेज समालोचकने कहा भी है–Literature is the brain of humanity अर्थात् साहित्य मानव-समाज का मस्तिष्क है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सभ्यता और संस्कृत का निर्देशक कह सकते हैं। जैसी उन्नत

या अवनत जाति की दशा होगी वैसा ही उसका साहित्य होगा। साहित्य को समाज का दर्पण कहा जा सकता है।

पर क्या साहित्य का भी समाज पर कुछ प्रभाव पड़ता है? क्या साहित्य समाज के बनाने-बिगाड़ने में कुछ योग देता है? बाल्यावस्था से ही जब मनुष्य लिखना-पढना सीखता है वह अपने साहित्य से प्रभावित होने लगता है। बालको के लिए जो पाठ्य पुस्तकें बनाई जाती हैं उनमे साहित्य का रूप भी कुछ-न-कुछ रहता ही है। फिर जैसे-जैसे बालक बड़ा होता जाता है वह साहित्य के अधिक सम्पर्क में आता जाता है। यह वह अवस्था होती है जब मनुष्य पर सब से अधिक प्रभाव पड़ता है। अतः जब वह साहित्य के सम्पर्क में आता है तब उससे प्रभावित भी होता है। बडा होकर जब वही बालक सांसारिक कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होता है तब वह साहित्य की प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत रहता है। इस प्रकार समाज के अगों (व्यक्तियों) पर साहित्य का प्रारम्भिक तथा स्थायी प्रभाव पड़ता है और वह प्रभाव सामाजिक उन्नति या अवनति का एक अंग हो जाता है। साहित्य मनुष्यों के जीवन में घुल-मिल जाता है। सुख में, दुख में, सम्पत्ति में, विपत्ति में, मनुष्य उसका सहारा लेता है।

यदि साहित्य से हम अपना सम्बन्ध तोड़ बैठें तो हमारे मस्तिष्क का विकास और उसकी वृद्धि रुक जायगी, क्योंकि साहित्य मस्तिष्क के लिए भोजन का कार्य करता है। साहित्य के अभाव में हमारा मस्तिष्क समाज के अर्जित एवं संचित ज्ञान-भंडार से वंचित रह जायगा। जैसे शरीर की उन्नति पंचभूतों—पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और अग्नि—की उपयुक्तता पर निर्भर है उसी प्रकार मानसिक उन्नति साहित्य की अनुकूलता पर अवलम्बित है। जैसे शरीर की रक्षा भोजन से होती है वैसे ही मस्तिष्क की रक्षा साहित्य से होती है। जैसे यदि शरीर को भोजन न मिले तो वह जीवित नहीं रह सकता उसी प्रकार मस्तिष्क को यदि साहित्य-रूपी भोजन न मिले तो वह शक्तिहीन हो जाता है। शक्तिहीन

मस्तिष्क से समाज की बहुत हानि होती है। उसकी उन्नति रुक जाती है। सभ्यता का विकास नहीं हो सकता और ज्ञान प्रसार का द्वार बन्द हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि साहित्य के अभाव मे समाज के व्यष्टि और समष्टि दोनों रूपों को भारी हानि पहुँचती है।

ससार का इतिहास हमे बतलाता है कि मनुष्यो की सामाजिक दशा मे साहित्य ने कैसे कैसे परिवर्तन किए हैं। फ्रास की राज्यक्रान्ति का वीज रूसो और वालटेअर के लेखों मे अतर्निहित था। इटली के उत्थान मे मैजिनी के लेखो ने हाथ बटाया। रस्किन के लेखो ने इंगलैण्ड के अर्थ-शास्त्रियो के कान खड़े कर दिए और अर्थ-शास्त्र में पीछे बहुत कुछ सुधार हुए। रूस का राज्यविप्लव वहाँ के साम्यवादी साहित्य के कारण हुआ। न्यूटन, अरस्तू, प्लेटो आदि महापुरुषों की कृतियों ने मनुष्य-समाज के ज्ञान को बढ़ाया है। विज्ञान द्वारा जो कुछ आविष्कार हुए हैं अथवा हो रहे हैं यह सब साहित्य का ही प्रसाद है। एक वैज्ञानिक पहले अपने विषय के सब साहित्य का अध्ययन करता है, फिर स्वय अपने मस्तिष्क द्वारा अन्वेषण-कार्य करता है। यदि उसके अध्ययन के लिए कोई साहित्य न हो तो वह कुछ भी नही कर सकता, वह समाज के ज्ञान को नहीं बढ़ा सकता।

हिंदुस्तान का इतिहास भी वही कहानी कहता है जो अन्य देशो का इतिहास कहता है। भारतीय साहित्य मे धार्मिक भावों की प्रचुरता रही है। हमारे यहाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसको स्थान दिया गया है। यहाँ तक कि राजनीति भी धर्म के घेरे से बाहर नही जाने पाई है। हमारे साहित्य पर धर्म के इस विस्तार के प्रभाव ने समाज को दो रूपों में प्रभावित किया हैं। एक ओर तो प्रत्येक हिन्दू के हृदय में धर्म ने गहरी जड़ जमा ली है। खान-पान में, वस्त्रो में, रहन-सहन में, वह धर्म का ध्यान रखता है। वह उसको कभी नहीं भूल सकता। छोटी-छोटी बातों में भी धर्म उसका साथ नहीं छोड़ता। यहाँ तक कि चौके के बाहर भोजन करने से उसका धर्म बिगड़ जाता है। दूसरी ओर

प्रत्येक हिन्दू व्यावहारिक जीवन के प्रति उदासीन बन गया है। प्रत्येक हिन्दू यह मानता है कि उसके जीवन का उद्देश्य सासारिक आमोद-प्रमोद नहीं है। उसे तो यहाँ उदासीनता के साथ जीवन व्यतीत करते हुए स्वर्ग का मार्ग परिष्कृत करना है। उसे ससार के प्रलोभनों में फँसकर अपने पावन अनुष्ठान से पतित नही होना चाहिए। इस प्रवृत्ति का दुष्परिणाम यह हुआ है कि हमारी सासारिक उन्नति नही हो सकी है। हमने प्राचीन समय मे आध्यात्मिक क्षेत्र मे तो पर्याप्त ख्याति पा ली, पर ससार को महत्व न देने के कारण उसकी समस्याओं पर अधिक ध्यान नहीं दिया। हमने स्वतन्त्रता का मूल्य न जाना और पराधीन रहना बुरा न समझा।

भारतीय साहित्य की प्रवृत्ति आदर्शवाद की ओर रही है। हमारे यहाँ सर्वदा साहित्य में सद्गुणों की दुर्गुणों पर विजय दिखलाई गई है। आचार्यों ने काव्य के नेता मे उदात्त वृत्तियो का होना आवश्यक ठहराया है। प्राचीन साहित्य को छान डालिए कही भी नायक में उदात्त गुणों का अभाव न मिलेगा। अन्त में प्रतिपक्षियो को पराजित करके नायक की विजय ही हमारे सभी प्राचीन काव्यो ने दिखलाई है। इस विशेषता का परिणाम यह हुआ है कि हम सदैव से सदाचार-प्रेमी रहे हैं। हमारे समाज ने एक से एक अधिक प्रसिद्ध पवित्र आत्माओ को जन्म दिया है। वर्तमान-काल मे भी गाधीजी प्रभृति महान आत्माएँ इस बात के प्रमाण हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी की रचनाओं को ले लीजिए। उन्होने अपने काव्य के नायक राम में सद्गुणो की पराकाष्ठा दिखलाई है। उनमे जैसा शील देखा जाता है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। 'विनय-पत्रिका' नामक रचना से राम के शील का एक चित्र यहाँ उद्धृत किया जाता है। देखिए--

> सिला [illegible] भइ परसत पावन पाउ।
> दई सुगति सो न हेरि हरष हिय, चरन छुए पछिताउ।

भव धनु भजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गए ताउ ।
छमि अपराध, छमाइ पाँइ परि, इतौ न अनत समाउ ॥
कह्यो राज, बन दियो नारिबस, गरि गलानि गयो राउ ।
ता कुमातु को मन जोगवत ज्यों निज तनु मरम कुघाउ ॥
कपि सेवा बस भए कनौडे, कह्यौ, पवनसुत आउ ।
देवे को न कछू रिनियाँ हौ, धनिक तू पत्र लिखाउ ॥

राम के इस हृदयग्राही स्वभाव ने न जाने कितने मनुष्यो को डूबने से नहीं बचा लिया है, न जाने कितने मनुष्यों ने इसके सहारे आचरण को सुधार कर अपना कल्याण नहीं किया है । 'जेहि सपनेहु परनारि न देखी' सरीखी पक्तियाँ तो प्रत्येक हिन्दू का कठहार हो रही हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे साहित्य ने चरित्र-निर्माण मे बहुत योग दिया है ।

हमारे साहित्य में वीर रस तथा देशभक्ति-सम्बन्धी रचनाओ का प्राय: अभाव-सा है । भूषण, सूदन आदि कुछ इने-गिने कवियों के अतिरिक्त किसी ने वीर रस की रचनाएँ नही की हैं । देशभक्ति की रचना तो शायद ढूँढ़ने मे एक भी नहीं मिलेगी । इसका प्रभाव भी हिन्दू समाज पर गहरा पडा है । यह हमारी पराधीनता का कारण है । हमारे हृदय में वीरता या देशभक्ति का कभी सचार नही हुआ । हमने अकर्मण्य बने रहकर प्रतिपक्षियो से कभी लोहा न लिया । यही कारण है कि हमारे ऊपर विदेशियो ने शासन किया और वे आज भी कर रहे हैं ।

साहित्य मे शृङ्गार रस की प्रचुरता ने समाज में विलासिता को बढाया है । रीतिकाल की शृङ्गारमयी रचनाओं ने जनता को विलासिता के गर्त मे डुबो दिया । राजा और प्रजा दोनो समान रूप से विलासमय जीवन व्यतीत करने लगे । दोनो मे अकर्मण्यता छा गई ।

वर्तमान काल मे भी साहित्य समाज को प्रभावित कर रहा है । सब से अधिक प्रभाव अँगरेजी साहित्य का पड़ा है । अँगरेजी साहित्य देशभक्ति के उद्‌गारो से भरा पड़ा है । उसके अध्ययन से भारतवासियों

के हृदय मे चिरकाल से सुसुप्त देशप्रेम का भाव आज जाग गया है। यही कारण है कि आज भारतवर्ष मे देशप्रेम की लहरे उठ रही है। आज भारतवासी अपनी मातृभूमि की बेड़ियाँ काटने के प्रयत्न कर रहे है। देश का साहित्य भी राष्ट्रीय भावनाओं को प्रकट करके समाज को उनमे ओत-प्रोत कर रहा है। कही पर कोई कवि फूल से इस प्रकार अभिलाषा प्रकट करा रहा है—

मुझे तोड़ लेना बनमाली, उस पथ मे देना तुम फेक।
मातृ-भूमि पर शीश चढाने, जिस पथ जावे वीर अनेक॥

तो कही पर कोई कवि अपने पात्र से जन्म-भूमि के प्रति इस प्रकार कहला रहा है :—

मैं हूँ तेरा सुमन चढ़ूँ सरसूँ कही।
मैं हूँ तेरा जलद बढ़ूँ बरसूँ कही॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होगया होगा कि साहित्य सर्वदा समाज को अपने रग मे रँगता रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि समाज भी साहित्य को अपने रग में रँगता रहता है। साहित्य और समाज में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। कभी एक दूसरे के प्रभाव से परे नहीं हो सकता। "Poet and the age react upon each other" अर्थात् कवि और समय एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं। समाज की उत्पत्ति के पश्चात साहित्य की उत्पत्ति होती । अतः पहले समाज साहित्य को प्रभावित करता है और फिर स्वय उससे प्रभावित होता है। साहित्य और समाज का यह सम्बन्ध कभी नही टूट सकता। कारण यह है कि साहित्य का उत्पादक मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वस्तुतः साहित्य देश की उन्नति के लिए एक नितान्त आवश्यक साधन है। किसी ने ठीक ही कहा है :—

अधकार है वही, जहाँ आदित्य नहीं है।
मुर्दा है वह देश, जहाँ साहित्य नहीं है॥

विशेषताओं के परिचय विना मानव-जीवन असंभव है। अतः मनुष्य-समाज प्राचीनकाल से भिन्न-भिन्न पदार्थों की परीक्षा करता हुआ तद्विषयक ज्ञान की अभिवृद्धि करता रहा है। अनेक विज्ञान प्रकृति के अगों का अध्ययन करने में सलग्न हैं। नई-नई बातो का अन्वेषण हो रहा है। इसी प्रकार मनुष्य साहित्य के गुण-दोष भी परखते हैं। साहित्य और समाज मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य से समाज सदैव प्रभावित होता रहता है। ऐसी दशा मे यह अत्यत आवश्यक है कि साहित्य पर आलोचना का नियत्रण रक्खा जाय जिससे कुरुचिपूर्ण साहित्य द्वारा समाज का रूप विकृत न हो जाय।

साहित्य मे आलोचना का उद्देश्य गदी और कुरुचिपूर्ण रचनाओं का निराकरण तथा सत्साहित्य की वृद्धि करना है। समालोचना साहित्य-सागर के मोतियो और ककड़-पत्थरो को ढूँढ़ निकालती है और उनको पृथक् पृथक् करके मानव-चक्षुओ के समक्ष उपस्थित करती है। यह वह कसौटी है जिसपर कसकर किसी ग्रन्थ का मूल्य निर्धारित किया जा सकता है। साहित्य जीवन की व्याख्या है। आलोचना उस व्याख्या की भी व्याख्या करती है। किसी ग्रन्थ के पढ़ने से पूर्व उसके गुण-दोष जान लेना आवश्यक है। प्रत्येक पाठक यह जानना चाहता है कि अमुक ग्रन्थ कैसा है, उसको पढना चाहिए अथवा नही, उसके पढने से लाभ होगा या हानि, उसमे जीवन-सम्बन्धी समस्याओ का नीति-सगत विवेचन है या नही। इन बातो के ज्ञान से वह यह निश्चित कर सकता है कि अमुक ग्रन्थ अच्छा है या बुरा। आलोचक उसे इन बातो का परिचय देता है। समालोचना द्वारा वह ग्रन्थो का विश्लेषण करता है। वह कवि या लेखक की अतरात्मा में प्रवेश करके उसकी छानबीन करता है और वहाँ जो कुछ मिलता है उसको प्रकाश में लाता है। वह पुस्तक की तह मे जाकर उसके गुण-दोषो का विवेचन करता है। समालोचक अपनी पैनी दृष्टि से नए-नए मार्ग खोज निकालता है। वह नए-नए सिद्धान्त और

पद्धतियाँ ढूँढ़ लेता है। वह साधारण से भी साधारण बातों में सौन्दर्य देख लेता है। जिन बातों के सम्बन्ध में साधारण मनुष्य सोच भी नहीं सकता उन्हें वह हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। निस्संदेह समालोचक पाठक के लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है। वह पाठक का सच्चा मित्र है। वह पाठक को साहित्य के अंधकूपों में गिरने से बचाता है। यदि कोई पाठक किसी गंदी रचना को पढ़ेगा तो यह अवश्यम्भावी है है कि वह कम से कम किसी-न-किसी अंश में उससे प्रभावित हो जायगा। कुरुचिपूर्ण रचनाएँ बालकों का तो सत्यानाश कर सकती हैं। अतः उत्थान के मार्ग में अग्रसर करनेवाली रचनाओं के सम्पर्क में लाने वाली वस्तु समालोचना है।

समालोचना से सत्साहित्य की वृद्धि होती है और अंधकार में छिपे हुए रत्न प्रकाश में आ जाते हैं। यदि सूरसागर और रामचरितमानस की समालोचना न की जाती तो सर्वसाधारण उसका इतना आदर न करता। समालोचना द्वारा समाज के हित-साधक साहित्य के निर्माण-कर्ता को उत्साहित किया जाता है। कला की दृष्टि से, नीति की दृष्टि से, यदि कोई पुस्तक अच्छी होती है तो समालोचना द्वारा उसका चारों ओर प्रचार किया जाता है। लेखक को यश मिलता है और धन भी। यदि समालोचना न हो तो कितनी ही अच्छी पुस्तक क्यों न हो अंधकार में पड़ी रहेगी, उसका सर्वसाधारण में प्रचार न होगा। हाँ, संभव है बहुत समय व्यतीत होने पर लोग उसको जान सकें। साथ ही समालोचना बुरी रचनाओं को रोकती है। यदि कोई कवि या लेखक बुरी रचना करता है तो आलोचक अपने वाक्-वाणों से उसको छेद डालता है और रचयिता को पुनः वैसी रचना करने से रोकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि साहित्य एक कला है। कला में सदसद् का विचार हो ही नहीं सकता। न कोई कला सदाचार का प्रतिपादन करती है और न दुराचार का। कला कला ही के लिये होती है।

उसका उद्देश्य किसी सिद्धान्त की व्यजना नही। अतः साहित्यक आलोचना का उद्देश्य यह निर्णय करना है कि कला की अभिव्यजना अनूठी उक्तियो मे हुई है या नही। पर यह ठीक नही है। मानव जीवन और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्यकार स्वय मनुष्य होता है। उसका जो कुछ अनुभव होता है वह जीवन से ही होकर आता है। उसी अनुभव को वह साहित्य के रूप मे समाज को भेट कर देता है। जीवन की भिन्न-भिन्न समस्याओ का उद्घाटन तथा दशाओ का चित्रण साहित्य मे होता है। अतः नैतिक सदसद् का विचार आ ही जाता है। फिर यह कहना ठीक नही है कि आलोचना उक्ति के अनूठेपन की ही कसोटी है। जब साहित्य सदाचार और दुराचार-परक होगा तब आलोचना क्यो न सत्साहित्य की वृद्धि करने वाली होगी ?

कुछ लोग समालोचना को अनावश्यक बतलाते हैं। उनका कहना है कि "भिन्न रुचिर्हिलोकः" सिद्धान्त के अनुसार सभी लोग किसी ग्रन्थ के गुण-दोषों के विषय मे भिन्न-भिन्न मत देगे। जो कविता हमे अच्छी लगती है, सभव है वह कविता किसी दूसरे मनुष्य को न रुचे। जिस रचना को हम गुणो से परिपूर्ण बतलाते है और उसकी मुक्तकठ से प्रशसा करते है, सभव है अन्य लोग उसे घासलेटी समझते हो। तो फिर किसी ग्रन्थ की कौनसी समालोचना ठीक है यह मालूम करना असभव है। अतः समालोचना से कोई लाभ नही। वह अनावश्यक है। हमे स्वय ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए और अपनी निज की सम्मति स्थिर करनी चाहिए। क्यो हम दूसरों की सम्मतियों को माने ? ईश्वर ने हमे बुद्धि दी है तो क्यो न हम उसका उपयोग करे ? इसके विषय में हमे यह कहना है कि समालोचना मे रुचि-वैचित्र्य का नियम नही लागू हो सकता। जो पुस्तक अच्छी होगी, जिसमे सदाचार का पाठ पढ़ाया गया होगा, उसे सभी लोग अच्छी कहेगे। 'रामचरितमानस' को ही लीजिए। क्या भिन्न-भिन्न मनुष्यो की समालोचना इस ग्रन्थ के

विषय में भिन्न भिन्न है ? नहीं। सभी विद्वान उसे हिन्दी-साहित्याकाश का सूर्य मानते हैं। हा, यह हो सकता है कि कुछ बातों मे रुचिभिन्नता पाई जाय। पर एक अच्छे ग्रन्थ की पूर्ण समालोचना कभी दो प्रकार की न मिलेगी। कभी-कभी ऐसे ग्रन्थों की समालोचनाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं जो न तो बहुत अच्छे होते हैं और न बहुत बुरे। कहने का तात्पर्य यही है कि समालोचना व्यक्तिगत वस्तु नहीं है। उसका सम्बन्ध समाज से है। समाज मे समालोचना के सिद्धान्त पृथक्-पृथक नहीं होते। अतः समालोचना भी अलग-अलग नहीं हो सकती।

समालोचना प्रधानतः तीन प्रकार की होती है—(१) व्याख्यात्मक (२) निर्णयात्मक और (३) तुलनात्मक। व्याख्यात्मक समालोचना किसी पुस्तक के गुणों और दोषों का स्पष्टीकरण करती है। वह उसका मूल्य नहीं निर्धारित करती। निर्णयात्मक समालोचना किसी रचना के गुण-दोष ज्ञात करके उसका मूल्य निर्धारित करती है। समालोचक न्यायाधीश की भाँति अपना निर्णय देता है। वह कहीं कवि या लेखक की निंदा करता है और कहीं उसकी प्रशंसा। तुलनात्मक समालोचना किसी रचना को उसी प्रकार की किसी अन्य रचना के साथ रखकर उसका अध्ययन करती है। वह दोनों की तुलना करती हुई आलोच्य पुस्तक पर विचार करती है।

आलोचना के अधिकारी में कुछ गुणों के होने की अत्यन्त आवश्यकता है। वह निष्पक्ष, बुद्धिमान और आलोच्य विषय का पूर्ण पंडित हो। यदि निष्पक्ष न होगा तो वह किसी रचना के साथ न्याय नहीं कर सकेगा। जिस कवि या लेखक का वह पक्षपाती होगा उसकी निकृष्ट रचना को उत्तम कहेगा और जिसका द्वेषी होगा उसकी उत्तम रचना को निकृष्ट बतलावेगा। यदि बुद्धिमान न होगा तो वह किसी विषय की तह तक न जा सकेगा। यदि आलोच्य विषय का पंडित न होगा तो वह गुण-दोषों की ठीक परीक्षा न कर सकेगा।

अन्त मे यही कहना है कि साहित्य में आलोचना की बड़ी आवश्यकता है। यदि हम केवल अच्छी पुस्तके ही पढना चाहे और कुरुचि-पूर्ण एव रद्दी पुस्तको से दूर रहना चाहे तो समा-लोचना हमारे लिए बडी काम की वस्तु है। समालोचना का उद्देश्य साहित्य की छिपी हुई विभूतियो को, अधकार-विलीन रत्नो को, प्रकाश मे लाना और कल्याणकारी साहित्य की रचना को प्रोत्साहित करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति करती हुई वह समाज का हित करती है। साहित्य जनता की चित्तवृत्ति को प्रभावित करने का अच्छा साधन है। यदि साहित्य अच्छा होगा तो समाज अच्छा हुए बिना नही रह सकता।

भारतवर्ष में बेकारी की समस्या और उसका हल

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना–भारतवर्ष की प्राचीन आर्थिक दशा की अर्वाचीन आर्थिक दशा से तुलना

(२) बेकारी के कारण—

(क) घरेलू उद्योग–धंधो का भुलाया जाना

(ख) मशीनो का बाहुल्य

(ग) शिक्षा का औद्योगिक न होना

(घ) नौकरी की मनोवृत्ति

(ङ) अनेक भारतीय नौकरियो का अँगरेजों को मिलना

(३) बेकारी दूर करने के साधन—

(क) घरेलू उद्योग–धधों का पुनरुत्थान एवं सरकारी संरक्षण

(ख) सरकार द्वारा आर्थिक सहायता

(ग) औद्योगिक शिक्षा का प्रचार

(घ) सरकारी पदों पर केवल भारतीयों की नियुक्ति

(ङ) ५५ वर्ष की आयुवाले नौकरों का अलग करना

(च) अधिक कार्य–भार वाले महकमों मे शिक्षित बेकारों की खपत

(छ) देश की बढ़ती हुई जन–संख्या में कमी

(४) उपसंहार—सरकार के प्रयत्न

वह भारतवर्ष जो एक समय 'सोने की चिड़िया' कहलाता था, वह भारतवर्ष जिसमे एक समय दूध–घी की नदियाँ बहती थीं, आज दाने

दाने को तरसता है। फाह्यान नामक एक चीनी यात्री ने लिखा है कि भारतवर्ष मे मुझे पीने को जल मिलना दुर्लभ था। जहाँ कही मैं पीने को जल माँगता था वही मुझे दूध दिया जाता था। इसी से भारतवर्ष की समृद्धि का, भारतवर्ष के वैभव का, भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति का, अनुमान लगाया जा सकता है। निस्सदेह प्राचीन भारत ससार भर मे सबसे अधिक धनाढ्य था। यहाँ बहुत से ऐसे उद्योग-धधे प्रचलित थे जिनके द्वारा विदेशो का धन इस देश मे खिंचा चला आता था। ऐसे समृद्धिशाली देश पर विदेशी जातियाँ अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहती थी। मुसलमानों ने इसको खूब लूटा खसोटा। उनके पश्चात् अँगरेजों ने इस देश को बुरी तरह चूसा है। यहाँ के धन को इँगलैण्ड ले जाना ही अँगरेजों का ध्येय रहा है और है। आज भारतवर्ष की जो दुर्दशा हो रही है, आज इस देश मे जो बेकारी देखी जाती है, उसका प्रधान कारण अँगरेजी राज्य है। पराधीनता की शृङ्खलाओ मे जकड़ा हुआ हमारा देश आज बेकारी के रोग से आक्रान्त है। यहाँ चारों ओर बेकारी का ताडव नृत्य हो रहा है। क्या किसान, क्या व्यापारी, क्या शिक्षित-समाज, क्या मजदूर सभी बेकारी की महाव्याधि से पीड़ित हैं।

इस भयकर बेकारी के कारण क्या हैं? घरेलू उद्योग-धधो का भुलाया जाना इसका एक कारण है। प्राचीन काल में हमारे देश में प्रत्येक घर का कुछ-न-कुछ उद्योग अथवा धधा हुआ करता था। यदि किसी घर में चरखा चलाया जाता था तो किसी मे कपड़ा बुनने का व्यवसाय होता था। यदि किसी घर में तेल-इत्र बनते थे तो किसी में खिलौने। यदि किसी घर में कागज बनाया जाता था तो किसी घर में रंग। यदि किसी घर मे चित्रकारी का कार्य होता तो किसी घर में गुड़-खाँड़ बनाने का व्यवसाय। पर आज हम अपने पुराने उद्योग-धंधों को ठुकराए हुए हैं। कई धंधे तो ऐसे हैं जिन्हे हम धीरे-धीरे बिल्कुल ही भूल गए हैं।

बेकारी का अन्य कारण मशीनो का बाहुल्य है। मशीनो ने घरेलू उद्योग-धधो पर कुठाराघात किया है। इसके अतिरिक्त इनसे अनेक श्रमजीवियो की रोटियाँ छिन गई हैं। एक मशीन थोड़े से समय मे बहुत से मजदूरो की बराबर काम कर डालती है। जो कार्य एक दिन मे सौ मजदूर करते थे वही कार्य अब एक मशीन दो-चार मजदूरो की सहायता से दो-चार घटो मे कर डालती है। अतः स्पष्ट है कि मशीन ने असख्य मनुष्यो की जीविका छीन ली है, असख्य मनुष्यो को वेकार बना दिया है।

बेकारी का अन्य कारण है—औद्योगिक शिक्षा का अभाव। आजकल स्कूल और कालेजो मे ऐसी अव्यावहारिक शिक्षा प्रदान की जाती है कि उससे नवयुवको की रोटी की समस्या हल नहीं होती। आजकल की शिक्षा-पद्धति ऐसी दूषित है कि वह मस्तिष्क के विकास में ही विद्यार्थी की सारी शक्तियो को लगाए रहती है। शिल्प-कला-सम्बन्धी शिक्षा के अभाव के कारण शिक्षित नवयुवक सदैव पराधीन रहते है, दूसरो के मुँह ताकते हैं। जब तक सरकारी नौकरियो का द्वार खुला था तब तक तो शिक्षित लोग अच्छे-अच्छे पद पाते रहे और अपनी शिक्षा की सराहना करते रहे। परन्तु आज जब ढूँढने से भी कोई नौकरी नहीं मिलती है तब उन्हे वर्तमान शिक्षा का वास्तविक स्वरूप दिखलाई दिया है। आज शिक्षित-समाज इस शिक्षा को कोसता है। शिक्षित नवयुवको की तो बड़ी दुर्दशा हो रही है। छोटी-छोटी नौकरियो के लिए सहस्रो की सख्या मे आवेदन-पत्र आते हैं। २०) या २५) मासिक की नौकरी के लिए ग्रेजुएट तक प्रार्थना-पत्र भेजते हैं। यहाँ तक कि हमारे बहुत से होनहार नवयुवक तो उकताकर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर डालते है। कैसा हृदय-विदारक दृश्य है!

शिक्षितो की बेकारी बहुत कुछ उनकी मनोवृत्ति पर भी निर्भर है। प्रायः देखा जाता है कि शिक्षित लोग शारीरिक परिश्रम का कार्य करने में अपनी हेटी समझते हैं। हाथो से कठिन परिश्रम करना उनकी शान

के खिलाफ है। उन्हे तो कुर्सी पर डट कर कलम चलाना अधिक रुचता है। वास्तव मे वर्तमान शिक्षा मनुष्य मे नौकरी की मनोवृत्ति उत्पन्न करती है। इस दृष्टि से मैकोले को पूर्ण सफलता हुई है, क्योंकि भारतवर्ष मे इस शिक्षा के सूत्रपात करने मे उसका यही उद्देश्य था।

हमारी बेकारी का अन्य कारण यह है कि अनेक भारतीय नौकरियाँ अँग्रेजो को मिलती रहती हैं। हमारे देश मे प्रायः ऊँचे-ऊँचे पदो पर अँग्रेजो की ही नियुक्ति की जाती है और दरिद्र जनता के कोश से उन्हे अत्यधिक वेतन मिलता है। भारतवर्ष मे योग्य से योग्य मनुष्य मिल सकते है, तो भी विदेशियो द्वारा उनकी रोटियाँ छीनी जाती हैं। क्यो एक भारतवासी को जिसका भारतीय नौकरी पर सब से प्रथम अधिकार है भूखा मरने दिया जाता है और एक विदेशी की जेब गरम की जाती है? यह कैसा घोर अन्याय है!

अब प्रश्न यह है कि बेकारी से हमारा किस प्रकार उद्धार हो? घरेलू उद्योग-धन्धो का पुनरुत्थान इसका एक साधन है। सरकार को चाहिए कि स्थान-स्थान के प्राचीन धन्धो की खोज कराए और मृतप्राय धन्धो को जीवन दे और विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिए उन्हे संरक्षण प्रदान करे। प्रत्येक गृह मे कोई-न-कोई धन्धा किया जाय। रेशम के कीड़े पालना, शहद की मक्खियाँ पालना, चरखा कातना, कपड़ा बुनना, बागबानी, साबुन बनाना, मुर्गियाँ पालना, तेल-इत्र बनाना, चटाइयाँ बनाना, चमड़ा पकाना, खिलौने बनाना, कागज बनाना आदि अनेक धन्धे हैं। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार इनमें से कोई एक या दो चुन लिए जायँ। मुर्गी-पालना अच्छा धन्धा है, पर उन्हीं के लिए जो अहिंसावादी नहीं हैं। हमारे देश मे इस व्यवसाय की ओर अभी अधिक लोगो का ध्यान नही गया है। चमार, भगी, खटीक, कंजड आदि कुछ अछूत जातियाँ ही मुर्गियाँ पालती हैं और कुछ जीविका उपार्जन कर लेती हैं। अडो की खपत दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और खाद्य पदार्थ के रूप में इनके महत्व पर जोर

दिया जाने लगा है। आजकल सुगधित तेल और इत्रो की भी माँग बढ़ रही है। ऐसी दशा मे तेल-इत्र बनाने का व्यवसाय भी बहुत लाभप्रद हो सकता है। प्रकृति ने भारतवर्ष मे अगणित प्रकार के पुष्प उत्पन्न किए है जिनसे सुगधित तेल और इत्र बनाए जा सकते हैं। रेशम के कीड़े पालना भी अच्छा व्यवसाय है। रेशम का कीड़ा अडी, सहतूत और कसेरू के पेड़ो पर रहता है। अतः इन वृक्षो के बाग लगवाने चाहिएँ।

उद्योग-धन्धो के पुनरुत्थान के लिए यह भी आवश्यक है कि सरकार दरिद्र बेकारो को स्वतन्त्र व्यवसाय करने के लिए आर्थिक सहायता दे और उनकी कठिनाइयो का निराकरण करे। इस प्रकार के सरकारी प्रोत्साहन से बहुत से बेकार स्वतन्त्र व्यवमायो मे सलग्न हो जायँगे।

देश मे औद्योगिक शिक्षा का प्रचार भी बेकारी दूर करने का अच्छा साधन है। आजकल की शिक्षा में परिवर्तन की आवश्यकता है। यदि हमारे स्कूलो और कालेजो मे दस्तकारी की शिक्षा स्थान पा जाय तो कोई कारण नही है कि शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् आज की भाँति नवयुवक दर-दर नौकरियो के लिए भटकते फिरे। वे शीघ्र कोई-न कोई व्यवसाय आरम्भ कर दे और स्वतन्त्र रूप से जीविका उपार्जन कर सके।

पर यह तो भविष्य की बात है। जो शिक्षित नवयुवक आज बेकार बने मारे-मारे फिर रहे है उनका क्या प्रबन्ध हो? इसके लिए यह नियम बनाना चाहिए कि भविष्य मे कोई भी भारतीय नौकरी किसी विदेशी को न मिल सकेगी। विदेशी सरकार के होते हुए ऐसा नियम बनना यदि असम्भव नही तो कठिन अवश्य है, पर प्रयत्न की आवश्यकता है। आज भारत के सिर पर अँग्रेजी सेना का भार है जो भारतीय आय का अधिकाश खा जाती है। यदि उसके स्थान पर भारतीय पलटन

रखी जाय तो भारी आर्थिक बचत हो और बेकारी की समस्या भी बहुत कुछ हल हो जाय।

शिक्षित बेकारो के हित मे यह भी आवश्यक है कि नौकरो के लिए यह नियम बन जाय कि वे ५५ वर्ष की आयु पूरी होने पर नौकरी छोड़ने के लिए बाध्य किए जायँ। आजकल यह देखा जाता है कि नौकरियो मे आयु का प्रतिबन्ध ठीक नही है। दो-चार वर्ष की रियायत हो जाना साधारण बात है। ऐसा भी देखा जाता है कि कुछ नौकरियाँ आयु पूरी होने पर अलग किए हुए सरकारी नौकरो को फिर मिल जाती हैं। रियासतो और प्राइवेट सस्थाओं मे ऐसा बहुत होता है। इस प्रवृत्ति को भी रोकना चाहिए।

आजकल बडे-बडे सरकारी कर्मचारियो को बहुत अधिक वेतन मिलता है। यह वाछनीय है कि उनके वेतन कम किए जायँ और ऐसे महकमो मे जिनमे कार्य-भार अधिक है शिक्षित नवयुवको को स्थान दिया जाय। उदाहरणार्थ न्यायालयों को लीजिए। प्रत्येक न्यायालय मे न्यायाधीश पर इतना अधिक कार्य रहता है कि वह उसे सुचारु रूप से नहीं कर सकता। अतः इस महकमे मे शिक्षित बेकारों के लिए स्थान हो सकता है।

बेकारी के निराकरण के लिए बढती हुई जन-सख्या में भी कमी होना आवश्यक है। गत १० वर्ष में भारत की जन-सख्या में तो ६ करोड़ की वृद्धि हो गई है पर आय मे कोई वृद्धि नही हुई है। इसका परिणाम यह हुआ है कि लोग भूखे मर रहे हैं। यह प्रत्यक्ष है कि यदि आय के साधन पूर्ववत् रहेगे और जन-संख्या निरन्तर बढ़ती जायगी तो बेकारी अवश्य फैलेगी। अतः यह आवश्यक है कि पुरुष और स्त्रियाँ संयम एव नियन्त्रण सहित जीवन व्यतीत करे। उन्हे इतने अधिक बच्चे उत्पन्न करने का क्या अधिकार है जिनका वे पालन-पोषण नही कर सकते, जिनकी जीविका का वे प्रबन्ध नही कर सकते ?

साराश यह है कि यद्यपि बेकारी की समस्या बड़ी भयकर है, तथापि

यदि सरकार की सहानुभूति एव सहायता मिल जाय तो भारतीय जनता इससे बहुत कुछ उद्धार पा सकती है। हर्ष का विषय है कि अब सरकार का ध्यान इस देश-व्यापी समस्या की ओर आकर्षित हुआ है। प्रान्तीय सरकारें अपनी-अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार बेकारों की सहायता करने के प्रयत्न कर रही हैं। घरेलू उद्योग-धन्धों की ढूंढ-खोज हो रही हैं और शिक्षा को व्यावहारिक बनाया जा रहा है। आशा है हमारा देश इस भयानक रोग से मुक्त होकर पुनः अपनी खोई हुई समृद्धि को प्राप्त करेगा।

मुसलमानों की हिन्दी-सेवा

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—मुसलमानों का हिन्दी-प्रेम
(२) खुसरो की हिन्दी-सेवा
(३) सूफी कवियों की हिन्दी सेवा
(४) रसखान की ,,
(५) रहीम ,, ,,
(६) कबीर ,, ,,
(७) आलम ,, ,,
(८) इंशाअल्लाखाँ की ,,
(९) उपसंहार—मुसलमानों की हिन्दी सेवा का महत्व

हिन्दी-साहित्य का इतिहास इस बात का ज्वलत उदाहरण है कि मुसलमानो ने हिन्दी-साहित्य को अपनी रचनाओ से सजाकर हिदी के प्रति अपने प्रेम का परिचय दिया है। खुसरो, जायसी, रसखान, रहीम, इशाअल्लाखॉ आदि मुसलमान महानुभावो ने हिदी की जो सेवा की है वह कभी भुलाई नही जा सकती। वह सदा स्मरणीय रहेगी।

सबसे पहले खुसरो ने सवत् १३४० के लगभग हिदी मे रचना आरभ की। वे फारसी के बहुत अच्छे विद्वान् और कवि थे। उनमे विनोद तथा सहृदयता खूब थी। उन्होने हिन्दी मे अनूठी पहेलियॉ और मुकरियॉ लिखी हैं। उनके काव्य मे दो प्रकार की भाषा मिलती है। ठेठ खड़ी बोली उनकी पहेलियो और मुकरियो मे पाई जाती है,

यद्यपि उनमे कहीं कहीं व्रजभाषा की भी झलक है। उनके दोहे और गीत व्रजभाषा मे लिखे गए हैं। कुछ नमूने देखिए—

एक नार ने अचरज किया। साँप मार पिंजरे मे दिया ॥
जोँ जोँ साँप ताल को खाए। सूखे ताल साँप, मर जाए ॥
(पहेली)

उज्जल बरन, अधीन तन, एक चित्त दो ध्यान।
देखत मे तो साधु हैं, निपट पाप की खान ॥
(दोहा)

हिंदी-साहित्य की प्रेममार्गी शाखा तो बिल्कुल मुसलमान सूफी कवियो की ही है। कुतबन, जायसी, उसमान आदि कई सूफी कवियों ने हिंदी मे प्रेमगाथाएँ रचीं। प्रेम-मार्गी कवियों मे सबसे प्रधान स्थान जायसी का है जिनका पद्मावत नामक प्रबन्ध-काव्य हिंदी-साहित्य का देदीप्यमान रत्न है। हिंदी के प्रबन्धकाव्यो मे तुलसीदासजी के रामचरितमानस के पश्चात पद्मावत को ही स्थान मिला है। जायसी ने 'पद्मावत' के अतिरिक्त 'अखरावट' और 'आखिरीकलाम' दो काव्य और लिखे हैं, पर उनकी उतनी प्रसिद्धि नहीं है जितनी पद्मावत की है। जायसी ने अपनी रचनाओ के लिए बोलचाल की अवधी को चुना है और उसका सरस तथा मधुर रूप सर्वसाधारण के समक्ष उपस्थित किया है। उनका हृदय 'प्रेम की पीर' से भरा हुआ था। यही कारण है कि उनकी प्रेम की उक्तियाँ बड़ी हृदयग्राहिणी हुई है। उनका प्रेम संसार से परे ईश्वरीय प्रेम है जिसका निरूपण रहस्यात्मक ढंग से किया गया है। कुछ नमूने देखिए—

पिउ हिरदय में भेंट न होई,
को रे मिलाव कहौं केहि रोई।

× × × ×

कँवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गएउ सुखाइ।
अबहुँ बेलि फिरि पलुहै, जो पिउ सीचै आइ ॥

कृष्ण-भक्ति-शाखा में रसखान का नाम बहुत प्रसिद्ध है। ऐसा कौनसा सहृदय हिंदी-भाषा-भाषी होगा जिसने रसखान का नाम न सुना हो। वे कृष्ण-भक्ति से इतने अधिक प्रभावित हुए कि इस्लाम धर्म का परित्याग करके उन्होंने कृष्ण-भक्ति को अपनाया। यह उनके हृदय की उदारता का परिचायक है। कृष्ण-प्रेम में मग्न होकर उनके हृदय ने जो रसधारा बहाई उसने हिंदीभाषा-भाषी जनता के हृदय को सिक्त कर दिया। उनकी लेखनी से प्रेम के जो कवित्त-सवैये निकले वे सहृदयों के कंठहार होगए। प्रायः कृष्णभक्त कवियों ने गीत-पद्धति को अपनाया था पर उन्होंने कवित्त-सवैया-शैली में ही अपनी भव्य वाणी का संचार किया। व्रजभाषा का जैसा निखरा हुआ रूप रसखान और घनानन्द की कविताओं में देखने को मिला है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। भाषा एवं भाव दोनों की दृष्टि से रसखान की रचनाएँ हिंदी-संसार में अपना विशेष स्थान रखतीं हैं। उनके अभी तक 'प्रेमवाटिका' और 'सुजान रसखान' नामक काव्य--ग्रंथ मिले हैं। उनकी रचनाओं के नमूने देखिए—

मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं व्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरि को जो धर्‌यो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदंब की डारन॥
(सवैया)

एरी आजु काल्हि सब लोक लाज त्यागि दोऊ
सीखे हैं सबै विधि सनेह सरसाइबो।
यह रसखान दिना द्वै में बात फैलि जैहै
कहाँ लौं सयानी चंदा हाथन छिपाइबो॥
आजु हौं निहार्‌यो बीर निपट कालिंदी तीर
दोउन को दोउन सौं मुरि मुसिकाइबो।

दोउ परैं पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ इन्हैं
भूलि गईं गैयाँ उन्हैं गागर उठाइबो ॥

रसखान के पश्चात हिंदी-क्षेत्र मे रहीम नामक मुसलमान कवि दिखलाई पडते हैं। ये अकबर बादशाह के प्रधान सेनापति थे और अरबी, फारसी, संस्कृत और हिंदी के विद्वान थे। ये बडे दानी थे। गंग कवि को इन्होने एकबार छत्तीस लाख रुपए दे डाले थे। गोस्वामी तुलसीदासजी से इनकी बड़ी मित्रता थी। इन्होंने हिंदी-साहित्य को रहीम सतसई, बरवै नायिकाभेद, शृङ्गार-सोरठ, मदनाष्टक, रास-पचाध्यायी आदि रचनाएँ भेंट कीं। रहीम ने व्रजभाषा और अवधी दोनो मे रचनाएँ की है। 'बरवै नायिकाभेद' बड़ी सुन्दर अवधी में लिखा गया है। इनकी रचनाएँ बड़ी मार्मिक हैं। कहीं-कहीं पर तो रस छलका पड़ता है। इनके कुछ बरवै और दोहे देखिए—

पीतम इक सुमरिनियाँ मोहि देइ जाहु।
जेहि जपि तोर बिरहवा करब निबाहु ॥
भोरहि बोलि कोइलिया बडवति ताप।
घरी एक भरि, अलिया! रहु चुपचाप ॥
(बरवै)

ज्यों रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उजियारो लगै, बढ़े अँधेरो होय ॥
सर सूखे पंछी उड़ैं औरे सरन समाहिँ।
दीन मीन बिन पख के कहु रहीम कहँ जाहिँ ॥
(दोहा)

हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में उपर्युक्त चार प्रधान मुसलमान महानुभावों के अतिरिक्त कबीर और आलम भी रक्खे जा सकते हैं। कबीर और आलम दोनो के सम्बन्ध में कुछ सज्जन यह आपत्ति कर सकते हैं कि ये दोनों ही जन्म से हिन्दू थे। अतः इनको हिन्दी-सेवी मुसलमानों के अंतर्गत नहीं रक्खा जाना चाहिए। ठीक है, कबीर और आलम दोनों

हिन्दू थे। दोनों ही ने ब्राह्मण कुल में जन्म पाया था। परन्तु कबीर का पालन-पोषण एक मुसलमान दम्पति द्वारा हुआ था और आलम शेख नामक एक रँगरेजिन के प्रेम में फँसकर मुसलमान हो गए थे। अतः इन दोनों को हम मुसलमान-कवियों के अंतर्गत रख सकते हैं।

कबीर ज्ञानाश्रयी शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि हुए। उन्होंने एक सामान्य भक्तिमार्ग चलाया जिसमें हिन्दू और इस्लाम दोनों धर्मों के सिद्धान्तों का समावेश किया गया। कबीर की उपासना निर्गुण-उपासना थी। उसमें सूफियों के सत्संग से 'प्रेम तत्व' का भी सम्मिश्रण हो गया था। कबीर की कविता की भाषा मिली जुली सधुक्कड़ी है। उसमें व्रजभाषा, अवधी, खड़ी, राजस्थानी, पंजाबी और पूरबी सभी का पुट पाया जाता है। उनकी उक्तियाँ बड़ी खरी तथा मार्मिक हैं। कई स्थान पर उनकी उक्तियों को समझना टेढ़ी खीर है। उनकी उल्टाबासियाँ ऐसी ही उक्तियाँ हैं। जैसे—

नैया बिच नदिया डूबति जाय।

कबीर की कविता में जायसी की कविता के समान रहस्यवाद की छटा भी देखी जाती है। जायसी की रचाओं में हमें केवल 'प्रेमात्मक' रहस्यवाद मिलता है पर कबीर की रचनाओं में 'प्रेमात्मक' और 'ज्ञानात्मक' दोनों रहस्यवाद हैं। 'प्रेमात्मक' रहस्यवाद के मूल में 'माधुर्य' भावना काम करती है। जब कवि ईश्वर को प्रियतम या प्रियतमा और अपने को प्रियतमा या प्रियतम मानकर अपने भावों को प्रकट करता है तब उसकी कविता रहस्यवादी कहलाती है। जब कवि ईश्वर, जीव और माया का पारस्परिक सम्बन्ध अन्योक्ति द्वारा प्रकट करता है तब वह 'ज्ञानात्मक' रहस्यवाद की सृष्टि करता है। कबीर के 'ज्ञानात्मक' रहस्यवाद का एक नमूना देखिए—

जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना यह तत कथौ गियानी॥

'प्रेमात्मक' रहस्यवाद का भी यह नमूना देखिए—

दुलहिन गावो मगलाचार । हमरे घर आए राम भरतार ॥
तन रति कर मैं मन रत करिहौ पाँचों तत्त्व बाराती ।
रामदेव मोहिं ब्याहन आए मैं जोबन मदमाती ॥

आलम रीतिकाल के एक रसिक कवि थे । उन्होंने शेख नामक रँगरेजिन के साथ शादी की जो स्वय एक अच्छी कवियित्री थी । आलम के इस रँगरेजिन के साथ प्रेम हो जाने की कथा इस प्रकार है । आलम ने एकबार अपनी पगड़ी रँगने के लिए शेख को दी । उसके एक खूँट मे एक कागज का टुकडा भी बँधा हुआ था जिसमे कविता की "कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन" पक्ति लिखी थी । शेख ने पगडी के खूँट को खोलकर उस कविता की पूर्ति मे "कटि को कचन काटि बिधि कुचन मध्य धरि दीन" पक्ति लिखकर पुनः कागज के टुकडे को पगड़ी के खूँट मे बाँध दिया । आलम कविता की पूर्ति पढ़ कर बहुत प्रसन्न हुए और शेख के प्रेमी बन गए । उन्होंने शेख की सहायता से कवित्त-सवैयो मे शृङ्गार रस की बहुत सी रचनाएँ कीं । उनका भी हृदय जायसी की भाँति 'प्रेम की पीर' से भरा हुआ था । शृङ्गार रस की बड़ी उन्मादपूर्ण उक्तियाँ उनकी रचनाओ मे मिलती हैं । उनके कवित्त-सवैये पढते समय कभी कभी रसखान की सी कविता का सा आनन्द आने लगता है । यह सवैया देखिए—

जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं ।
जा रसना सों करी वहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं ॥
आलम जौन से कुंजन मे करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं ।
नैनन मे जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं ॥

पद्य-क्षेत्र के अतिरिक्त गद्य-क्षेत्र में कार्य करनेवालों मे इशाअल्ला-खाँ का नाम महत्वपूर्ण है । ये महाशय हिन्दी-गद्य के प्रारम्भिक लेखकों मे श्रेष्ठ गिने जाते हैं । इन्होने ठेठ खड़ी बोली मे 'रानी केतकी की कहानी' लिखी है जिसकी भाषा चटकीली-मटकीली और मुहावरे-

दार है। चुलबुलापन इशा की शैली की विशेषता है। इनका वाक्य-विन्यास कहीं-कहीं फारसी--ढग का है। जैसे—

"सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ उस बनाने वाले के सामने जिसने हम सबको बनाया।"

साराश यह है कि मुसलमानो ने हिन्दी की महत्वपूर्ण सेवा की है। उन्होंने अरबी–फारसी के विद्वान् होते हुए भी हिन्दी को अपनाया है यह उनकी उदारता का निदर्शन है। उनमें से रसखान आदि कुछ लोगों ने तो ऐसी परिष्कृत भाषा का प्रयोग किया है कि पाठक को दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। वास्तव में मुसलमानों के हिन्दी-साहित्य-सम्बन्धी ऋण की महत्ता स्वीकार करते हुए भारतेन्दुजी की यह उक्ति—

इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिंदुन वारिये—सर्वथा उचित है।

भारतवर्ष में ग्राम-सुधार

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—गाँवों की दुर्दशा और उसके सुधार की आवश्यकता

(२) कृषि में सुधार—

(क) सिंचाई का सुप्रबन्ध

(ख) अच्छे हलों का प्रयोग

(ग) अच्छे खाद का प्रबन्ध

(घ) अच्छे बीजों की व्यवस्था

(ङ) रोगों से पौधों की रक्षा

(३) मवेशी के लिए चारे और चिकित्सा का प्रबन्ध

(४) सफाई की आवश्यकता

(५) चिकित्सालयों की आवश्यकता

(६) अशिक्षा का निराकरण

(७) घरेलू उद्योग-धन्धों का प्रचार

(८) उपसंहार—सुधार के प्रयत्न

भारतवर्ष में ग्रामो की जो दुर्दशा है वह किसी से छिपी नहीं। शिक्षा की दृष्टि से, सभ्यता की दृष्टि से, हमारे गाँव बहुत पिछड़े हुए हैं। उनकी आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय है। सामाजिक कुरीतियो ने गाँवो को अपना घर बना लिया है। भारतवर्ष गाँवो का ही देश है। इस देश मे गाँवो की सख्या लगभग सात लाख और शहरों की लगभग दो हजार दो सौ है। अतः भारतवर्ष की उन्नति के लिए ग्रामो की दशा सुधारना

नितान्त वाछनीय है। गाँवों की समस्या इस देश की सबसे बड़ी समस्या है। उसी के हल पर देश का कल्याण निर्भर है। अभी तक हमारा ध्यान गाँवो की समस्या पर नही गया था। हर्ष का विषय है कि अब हम लोग इस बात का अनुभव करने लगे है कि देश की सब से अधिक शक्ति ग्रामों मे है और ग्राम्य सुधार से हम अपने देश को उन्नति के मार्ग मे शीघ्र आगे बढ़ा सकेंगे।

ग्राम्य सुधार के लिए कृषि में सुधार करना विशेष आवश्यक है। आजकल खेती की बड़ी बुरी दशा है। किसी भी देश मे प्रति एकड़ और प्रति किसान भारतवर्ष की बराबर कम उपज नही होती। भरसक परिश्रम करने पर भी कृषक अच्छी फसल नहो उगा सकते। इसके कई कारण है। यहाँ सिचाई का प्रबन्ध अच्छा नहीं है। यद्यपि सरकार ने सिंचाई के लिए नहरे निकाली है और अब ट्यूब-वैल की भी स्कीम कार्य-रूप मे परिणित हो रही है तो भी अभी सिचाई का समुचित प्रबन्ध नहीं है। गाँवो मे दरिद्रता के कारण प्रत्येक किसान कुआँ नही खुदवा सकता। कही पर जल धरती के बहुत नीचे होता है। इसलिए कुएँ खुदवाने मे बहुत अधिक व्यय करना पड़ता है जिसके लिए धनवान किसान भी तैयार नहीं है। फिर जहाँ नहरे हैं वहाँ प्रायः यह शिकायत रहती है कि समय पर पानी नही मिलता। वास्तव मे केवल नहरो द्वारा सारे भारतवर्ष की सिंचाई नही की जा सकती, क्योकि यहाँ पर सर्वदा जल से भरी रहने वाली नदियाँ कम हैं। जो नदी वर्षात के चार-पाँच माह पश्चात् ही सूख जायगी वह सिचाई का क्या काम देगी? सयुक्त-प्रान्त मे गगा और यमुना दो ही नदी हैं जिनमें वर्ष भर जल बना रहता है। केवल इन दो नदियो से सारे प्रान्त की सिंचाई नही हो सकती। आशा है ट्यूब-वैल की स्कीम इस समस्या को हल कर देगी।

सिंचाई के अतिरिक्त कृषि की अवनति का उत्तरदायित्व पुराने ढंग के हलों पर भी है। लकड़ी के बने हुए ये हल धरती में अधिक

नीचे नहीं घुस सकते। अतः नीचे की मिट्टी ऊपर नहीं आ सकती। ऊपर की मिट्टी मे कुछ वर्षों के पश्चात् उपजाऊ गुण नहीं रह जाते। यदि नीचे की मिट्टी ऊपर नही लाई जायगी तो ऊपर की मिट्टी मे उपजाऊ शक्ति अधिक न होने के कारण पैदावार अच्छी नहीं हो सकेगी। अतएव अच्छी पैदावार के लिए ऐसे हलों की नितान्त आवश्यकता है जो जमीन के अन्दर दूर तक प्रवेश कर सके। यद्यपि ऐसे हलों का आजकल अभाव तो नहीं है पर कृषक उन्हे प्रयोग मे नही लाते। वे पुराने हलो के ही भक्त हैं।

अच्छे खाद के बिना भी खेती की उन्नति होना असम्भव है। जिस प्रकार मनुष्यों को भोजन की आवश्यकता है। उसी प्रकार पेड़ो को खाद की आवश्यकता होती है। भिन्न-भिन्न प्रकार के वृक्षों को विभिन्न प्रकार के खाद की आवश्यकता होती है। गाँव के किसानो को इस बात का ज्ञान ही नही होता। वे तो चाहे जिस प्रकार की फसल उगाना चाहे एकसे ही खाद का प्रयोग करते हैं। प्रायः कृषक गोबर, पशुओं का बचा हुआ भूसा–चारा, पौधो के डठल इत्यादि के घूरे लगा लेते हैं। वे ही खाद का काम देते हैं। खाद का यह प्रबन्ध ठीक नही है। खाद बनाने के लिए खेत के निकट एक गड्ढा होना चाहिए। जिस प्रकार की फस्ल उगानी हो उसी की आवश्यकता के अनुसार उस गड्ढे में खाद बनाने के पदार्थ डाल देने चाहिएँ। फिर गड्ढे को मिट्टी से ढक कर कुछ समय तक खाद को पकने देना चाहिए। खाद को खुला रखने से खाद की शक्ति मारी जाती है, क्योकि वायु के ससर्ग से उसके कई आवश्यक पदार्थ उड़ जाते हैं और यदि वर्षा हो जाती है तो कई आवश्यक पदार्थ जल मे घुलकर बह जाते हैं।

अच्छे बीजों के अभाव के कारण भी कृषि की उपज अच्छी नहीं होती। इसके लिए सरकार द्वारा पाँच पाँच मील की दूरी पर गाँवो में बीजो के भंडार रहने चाहिएँ जहाँ से किसान अच्छे बीज खरीद सके।

इन बातों के अतिरिक्त खेती की उन्नति के लिए यह भी आवश्यक

है कि पौधों को रोगों से सुरक्षित रखने के लिए वैज्ञानिक अन्वेषण किए जायँ। यह कार्य सरकार द्वारा होना चाहिए। सरकार अन्वेषण शालाएँ खोले जहाँ खेती की बीमारियो और पौधों में लगने वाले कीड़ों को दूर करने के लिए ढूँढ-खोज की जाया करे। सरकार को खेती की उन्नति का विशेष ध्यान रखना चाहिए। दुनियाँ में कहीं भी कोई गवर्नमेंट कृषि की उन्नति पर इतना कम खर्च नहीं करती जितनी भारत की सरकार और यहाँ की प्रान्तीय सरकारें करती हैं।

गाँवो मे मवेशियो की दशा शोचनीय है। न उन्हे खाने को पर्याप्त चारा मिलता है और न उनके रोगो की चिकित्सा का प्रबन्ध है। प्रत्येक देश में चरागाह हैं जिससे वहाँ के मवेशियो को चारे की कमी नहीं रहती। भारतवर्ष मे चरागाह वैसे ही थोड़े हैं। फिर भी किसान उन्हे जोतकर खेतों मे परिवर्तित करते रहते हैं। इस कुप्रवृत्ति से मवेशियो के लिए चारे की कमी होती जा रही है। किसान यह नहीं जानते कि मवेशियों के पालन-पोषण के लिए, जिन पर उनकी खेती निर्भर है, चरागाहों की सरक्षा कितनी आवश्यक है। सहस्रों मवेशी रोगो से पीड़ित होकर मर जाते हैं। गाँवों में जहाँ मनुष्यों के रोगों की चिकित्सा का ही प्रबन्ध नहीं है वहाँ मवेशी के रोगो की चिकित्सा का क्या प्रबन्ध हो सकता है? मवेशी की रक्षा के लिए पाँच-पाँच मील की दूरी पर प्रत्येक गाँव मे चिकित्सालय होने चाहिएँ।

अब गाँवों की सफाई की ओर आइए। कहने की आवश्यकता नही कि स्वच्छता स्वास्थ्य की जननी है। बिना स्वच्छता का ध्यान रखे मनुष्य स्वस्थ नही हो सकता। गावों के निवासियो का ध्यान सफाई की ओर बिल्कुल नही है। वहाँ पर जाकर देखिए तो सर्वत्र गंदगी पाइ-एगा। यदि किसी रास्ते पर आप जा रहे हो और हवा मे दुर्गन्ध आने लगे, मक्खियाँ अधिक उड़ती हुई दिखलाई दे तो आपको समझ लेना चाहिए कि गाँव समीप आगया है। और आगे बढ़िए। कूड़े और

गदगी के ढेर दिखलाई दे अथवा मैले-कुचैले जल से भरी हुई तलैया मिले तो समझिए आप गॉव की सीमा पर आगए हैं। अन्दर घुसने पर आपको सारे गॉव मे धूल और मक्खियों की प्रचुरता मिलेगी। इधर उधर गदे पानी की मोरियॉ बहती हुई मिलेगी। वर्षा-काल में तो गॉव की गदगी बहुत बढ जाया करती है। जगह जगह कीचड़ हो जाती है और दूषित जल से छोटे-छोटे गड्ढे भर जाते हैं। उन गड्ढों में मलेरिया फैलाने वाले मच्छर हो जाते हैं। यही कारण है कि वर्षा ऋतु के बाद गॉवो मे मलेरिया का प्रकोप हुआ करता है। गोबर और कूडे के ढेरो से भी वर्षा ऋतु मे बडी गँदगी फैलती है। असख्य मक्खियॉ पैदा होकर गदगी को चारों ओर फैलाती हैं। कहॉ तक कहे, लोग चाहे जहॉ मल-मूत्र त्याग देते हैं। एकबार बिहार की यात्रा करते हुए सरदार पटेल ने कहा था कि मोटर पर सोया हुआ मैं जब गदगी के कारण जाग पड़ता था तो समझता था कि किसी गॉव के निकट आगया हूँ। निस्सदेह गॉवों में गदगी की चरम सीमा है। इसका बहुत कुछ कारण गाँवो में शिक्षा का अभाव है। ग्राम्य सुधारकों का कर्त्तव्य है कि वे गॉवों में जाकर वहॉ के निवासियों की सफाई के लाभ और गंदगी की हानियॉ समझावे और प्रत्येक गॉव मे एक सफाई-समिति की स्थापना करे।

गॉवो मे चिकित्सा का भी सुप्रबन्ध नहीं है। गंदगी के कारण वहॉ अनेक रोगो ने स्थायी अड्डा जमा लिया है जिनसे प्रतिवर्ष अनेक मनुष्य अकाल ही काल के गाल मे चले जाते हैं। प्रतिवर्ष वर्षा-काल के पश्चात् मलेरिया का भयकर प्रकोप होता है। ग्रीष्म ऋतु मे हैजा जोर पकड़ता है। प्रायः लोग कहा करते हैं कि गॉवो मे रोग नहीं होते, क्योकि वहॉ का जल-वायु स्वास्थ्य-प्रद होता है। पर यह ठीक नहीं। गॉवों का जल-वायु तो अवश्य स्वास्थ्य वर्द्धक होता है परन्तु गदगी तो इतनी अधिक होती है कि स्वच्छ जल-वायु के प्रभाव को नष्ट कर डालती है। सरकार का कर्तव्य है कि गॉवो मे कम-से-कम प्रत्येक पॉच मील पर चिकित्सालय खोले।

गाँवों मे शिक्षा की कमी है। यहाँ तक कि अधिकाश लोगो के लिए 'काला अक्षर भेस बराबर' ही है। अशिक्षा के कारण ग्रामीण मनुष्यों का मानसिक विकास नही हो पाता और वे देश-विदेश की परिस्थिति से अनभिज्ञ रहते हैं। उनकी इस कूप-मण्डूकता का लाभ हाकिम-हुक्काम उठाते है। इनसे ग्रामीण मनुष्य बहुत डरते है और इनके अनुचित दबाव सहते है। साक्षर न होने के कारण वे वस्तुओ के क्रय-विक्रय के भाव नही जानते और ठगे जाते हैं। प्रायः देखा जाता है कि कृषक अपना माल सस्ता बेचते हैं और दूसरे का माल महँगा खरीदते हैं। यह अशिक्षा का ही प्रसाद है। इसी अशिक्षा के कारण गाँव के रहनेवालो मे आपस मे जरा-जरा सी बातो पर मुकदमे चल जाते है। इन मुकदमो मे वे ऋण लेकर भी रुपया व्यय करने मे नही हिचकते। 'पुरानी लकीर के फकीर' बने रहकर वे सामाजिक कुरीतियो का बहिष्कार नहीं करते। मितव्ययता के सिद्धान्तो को भी अशिक्षा के कारण नही जानते। वे खाने, पीने और पहनने में तो कम व्यय करेंगे, पर विवाहों मे अथवा माता-पिता के मृत्यु-भोजों मे खर्च करते समय अंधे हो जायँगे। गाँव में अधिक नहीं तो प्रारम्भिक शिक्षा तो सबको मिलनी चाहिए। देहात के लोग कम से कम इस योग्य तो हो जायँ कि अपनी मातृभाषा मे लिखी साधारण पुस्तके समझ सकें और समाचार पत्र पढ सके? इसके लिए प्रत्येक गाँव में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जानी चाहिए। यदि शिक्षा अनिवार्य नही की जायगी तो शिक्षा के महत्त्व को न जानने के कारण माता-पिता अपने बालकों को शिक्षित न बनाएँगे। सरकार को चाहिए कि ग्रामो की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दे। शिक्षा के साथ साथ गाँवों मे पुस्तकालय और वाचनालय भी खोले जायँ। इनके बिना देश-विदेश की परिस्थतियो का ज्ञान गाँव वालो को नही हो सकता। सामाजिक एव राजनीतिक परिस्थतियो से वे अनभिज्ञ रहेंगे। फिर वे समाज अथवा देश का सुधार कैसे कर सकेंगे? गाँव में लड़कियो को पढ़ाना तो

पाप समझा जाता है। कह नही सकते यह कुरुचि कहाँ से गाँवो मे पहुँच गई है। पाठक भली भाँति जानते होगे कि लड़कियो का पढाना समाज के लिये कितना आवश्यक है। बच्चा अपनी माता से जितनी बाते जितनी सरलता से सीख सकता है उतनी बातें वैसी सरलता से वह आजन्म नही सीख सकता। यदि लड़कियाँ अशिक्षित रहेगी तो वे माता बनने पर अपने बच्चो को क्या शिक्षा दे सकेंगी? इसके अतिरिक्त स्त्रियो में जो कुरीतियाँ, बुरे शौक आदि प्रचलित हैं उनके उन्मूलन के लिए भी शिक्षा नितान्त वाञ्छनीय हैं।

गाँवो मे प्रायः तीन चौथाई लोगो की जीविका कृषि पर निर्भर है। कृषक लगभग चार माह तक बेकार रहते हैं। यदि अपने इस समय को वे घरैलू उद्योग-धन्धों में लगावे तो उनकी दरिद्रता दूर हो सकती है और वे जमींदारो और महाजनो के ऋण से मुक्त हो सकते हैं। आजकल किसान ऋण से बे तरह ग्रस्त हैं। महाजन और जमींदार दोनों उन्हे खूब तग करते हैं। उनका जीवन दुःखमय है। उनकी आपदाओ का कभी अत नही होता। वे प्रत्येक वर्ष कडे से कड़ा परिश्रम करते हैं तो भी उन्हे भर पेट भोजन नही मिल पाता। उनके शरीर भूख के कारण घुले जा रहे हैं। वे अस्थि-पजर हो रहे हैं। उनके मस्तिष्क ऋण की चिन्ता से बिगड़े जा रहे है। ऐसी परिस्थति मे किसानो को अपनी आर्थिक दशा सुधारने के लिए गृह-उद्योगों का अपनाना बहुत आवश्यक है। हमारे यहाँ कई ऐसे उद्योग-धधे हैं जिनको किसान बैठक के समय मे कर सकते हैं। जैसे—कागज बनाना, चर्खा कातना, कपड़ा बुनना, रेशम के कीड़े पालना, मुर्गी पालना, बागवानी, शहद की मक्खियाँ पालना, कच्चा चमड़ा पकाना, रस्सी बटना, चटाइयाँ और डलियाँ बनाना, तेल-इत्र बनाना इत्यादि। इनमे से अपनी अपनी रुचि के अनुसार किसानों को धधे चुन लेने चाहिएँ। मुर्गी-पालन अच्छा धधा है, पर उन्हीं के लिए जो अहिंसावादी नहीं हैं। हमारे देश मे इस व्यवसाय की ओर अभी ध्यान नहीं

गया है। चमार, भगी, खटीक और कजड़ आदि कुछ अछूत जातियाँ मुर्गियाँ पालती हैं और कुछ जीविका उपार्जन कर लेती हैं। अडो की खपत दिन प्रतिदिन बढती जा रही है और खाद्य पदार्थ के रूप में इनके महत्व पर जोर दिया जाने लगा है। इसके अतिरिक्त मुर्गियों से खेती को भी लाभ पहुँचता है। वे पौधो की बीमारियों को ही दूर नही भगाती, बल्कि जो कीडे पौधो को हानिकर होते हैं उन्हे खा जाती है और खेतो मे बहुत अच्छा खाद फैलाती है। आजकल सुगधों और सेटो की माँग दिन प्रतिदिन बढती जारही है। ऐसी दशा मे तेल–इत्र बनाने का व्यवसाय भी बहुत लाभप्रद हो सकता है। प्रकृति ने भारतवर्ष मे सैकडो प्रकार के फूल पैदा किए हैं जिनसे सुगन्धित तेल और इत्र बनाए जा सकते हैं। रेशम के कीड़ो का पालना भी अच्छा व्यवसाय है। रेशम का कीड़ा अंडी, सहतूत अथवा कसेरू के पेड़ पर रहता है। इससे कच्चा रेशम सितम्बर या नवम्बर के माह में इकट्ठा किया जाता है। इस धधे से देश मे बहुत से बेकारो की जीविका चल सकती है। कच्चे चमड़े को पकाना भी अच्छा व्यवसाय है। प्रति वर्ष भारतवर्ष से बहुत सा कच्चा चमड़ा विदेश जाता है और वहाँ से उसकी चीजे बनकर पुनः भारत को आती हैं। यदि यही पर वह पका लिया जाया करे तो कितना अधिक लाभ हो! कहना नहीं होगा कि ससार के सभी देशों के किसान कुछ न कुछ उद्योग–धधे करते हैं। फिर भारतीय किसान ऐसा क्यो नही करता?

आजकल देखा जाता है कि गाँवों में झगडे बहुत होते हैं। छोटी छोटी बातो पर अशिक्षा के कारण ग्रामीण मनुष्य लड़ मरते हैं। इन झगड़ों के मुकदमे चलते हैं जिनमें दरिद्र ग्रामीण जनता पिस जाती है। अतः यदि प्रत्येक गाँव में एक पचायत स्थापित कर दी जाय तो वहीं गाँववालों के सब झगड़े निबट जाया करें और उनका बहुत रुपया बच जाया करे। सहयोगी समितियों की भी ग्रामों को आवश्यकता है। उन्हें सरकार का संरक्षण एवं सहायता मिलनी चाहिए। गाँव के

मनुष्यो को ऋण देने का कार्य भी सहयोगी समितियाँ करें और वहाँ की सफाई आदि की भी देखभाल रखे। साथ ही वे गाँव के रहने वाले मनुष्यो को मिल-जुल कर रहना सिखावे।

वास्तव में हमारे गाँवो की जैसी दुर्दशा है वैसी किसी देश के गावों की नहीं। अशिक्षा, गदगी, कृषि की अवनति, बेकारी, ऋण आदि रोगो ने भारतीय ग्राम के कलेवर को खोखला कर डाला है। परन्तु इधर कुछ दिनो से सरकार तथा देश के नेताओं का ध्यान गाँव की समस्याओ की ओर आकर्षित हुआ है और हम आशा करते हैं कि निकट भविष्य मे हमारे गाँवों की दशा पूर्णतः सुधर जायगी।

हिन्दी पर विदेशी भाषाओं का प्रभाव

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—जातियों के सम्पर्क से भाषाओं पर प्रभाव

(२) मुसलमानो के सम्पर्क का हिन्दी पर प्रभाव

(३) फारसी का हिन्दी-साहित्य के भाव-क्षेत्र पर प्रभाव—

(क) नाजुकता की प्रवृत्ति

(ख) दूर की सूझ

(ग) बीभत्सता का समावेश

(४) सूर और तुलसी का इस प्रभाव से मुक्त रहना

(५) फारसी का हिन्दी-भाषा पर प्रभाव

(६) फारसी का हिन्दी के छन्द-विधान पर प्रभाव

(७) फारसी का हिन्दी की रचना-शैली पर प्रभाव

(८) अँगरेजों के सम्पर्क का हिन्दी-गद्य पर प्रभाव—

(क) नाटक (ख) उपन्यास (ग) कहानी और

(घ) समालोचना

(१०) अँगरेजी का हिन्दी-पद्य पर प्रभाव

(११) अँगरेजी का हिन्दी-भाषा पर प्रभाव

(१२) उपसंहार—कुप्रभाव को रोकने की आवश्यकता

जब दो जातियों का सम्पर्क होता है तब उनमें पारस्परिक आदान-प्रदान होने लगता है। एक जाति की सस्कृति, सभ्यता, रहन-सहन, भाषा, साहित्य आदि का दूसरी जाति की सस्कृति, सभ्यता, रहन-सहन

भाषा साहित्य आदि पर प्रभाव पडता है। इतिहास इस कथन की पुष्टि करता है। मुसलमानो और अँगरेजो के ससर्ग से हिंदुओ पर पर्याप्त प्रभाव पडा है। मुसलमानों से जहाँ हमने पायजामा पहिनना तथा आदाबअर्ज करना सीखा है और पर्दे की कुप्रथा को ग्रहण किया है वहाँ उनकी भाषा फारसी और उसके साहित्य से भी बहुत कुछ लिया है। अँगरेजो से जहाँ हमने कोट-पैण्ट पहिनना और चाय पीना सीखा है वहाँ उनकी भाषा अँगरेजी और उसके साहित्य की बहुत सी विशेषताओं को भी अपना लिया है। कहने की आवश्यकता नही कि मुसलमान और अँगरेज भी हमसे प्रभावित हुए हैं और हो रहे है। इस प्रकार प्रभाव-चक्र सदैव घूमता रहता है।

मुसलमानो के आक्रमण के समय मध्यदेश की भाषा शुद्ध हिन्दी थी। उसमे जहाँ तहाँ प्राकृत एव अपभ्रश की भी छाप रहती थी। मुसलमानो के यहाँ आ बसने पर हिन्दी भाषा एव साहित्य दोनो पर गहरा प्रभाव पडा। फारसी ने हिन्दी को खूब प्रभावित किया। क्या भाव, क्या भाषा, क्या रचना-शैली सभी फारसी रग मे रँग गए।

भाव-क्षेत्र मे फारसी-प्रभाव ने तीन प्रधान रूप धारण किए। हिन्दी-काव्य के कोमलता के भाव ने नाजुकता का रूप धारण किया। कोमलता की पराकाष्ठा को नाजुकता कहते हैं। नाजुकता का इतना अधिक प्रभाव पडा कि हिन्दी के कवियो ने बुरी तरह उसका पल्ला पकडा। आज तक वही प्रभाव चला आ रहा है। जायसी, बिहारी, मैथिलीशरण गुप्त आदि अनेक कवियो ने बहुत सुन्दर ढग से इस भाव का अभिव्यजन किया है। जायसी का एक नमूना देखिए—

मकरि क तार तेहि कर चीरू।
सो पहिरै छिरि जाइ सरीरू॥

इस उक्ति को कुछ लोग कदाचित् अस्वाभाविक कहेगे क्योकि मकड़ी के तार से बने हुए वस्त्र से शरीर कभी नहीं छिल सकता। ठीक है। परन्तु उन्हे यह न भूल जाना चाहिए कि कविता रस के उद्रेक के लिए

अतिरंजना का सहारा लेती है। कवि के 'मुख—चन्द्र' कहने पर भी तो उस पर यही दोष लगाया जा सकता है। मुख वस्तुतः चन्द्रमा कभी नही हो सकता। अतः स्पष्ट है कि कवि कुछ-न-कुछ अतिरंजना अवश्य करता है। काव्य का इसी मे महत्व है। हॉ एक बात है, कवि की अतिरंजना मजाक की हद तक न पहुॅच जाय। बिहारी का भी इस भाव का एक नमूना लीजिए—

छाले परिबे के डरन सकै न हाथ छुवाइ।
झिझकत हिये गुलाब के झवा झवावति पाइ॥

वर्तमान कवि मैथिलीशरणजी गुप्त 'साकेत' में सीताजी का चित्रण करते हुए कहते हैं—

रुकने झुकने मे ललित लक लच जाती।
पर अपनी छवि मे छिपी आप बच जाती॥

'लक का लच जाना' नाजुकता की ओर संकेत करता है। सीताजी सरीखी सती साध्वी महिला को साधारण नायिका के रूप मे चित्रित करना उचित नही है।

फारसी—प्रभाव का दूसरा रूप दूर की सूझ है। फारसी—साहित्य मे दूर की सूझ बहुत पाई जाती है, जमीन और आसमान के कुलाबे मिलाए जाते है। वियोगिनी की आहों से आकाश का नीला हो जाना, वियोगिनी के ऑसुओं से समुद्र का खारा हो जाना, विरह की अग्नि से सुलगते हुए शरीर के धुॅए से कौओं का काला हो जाना इत्यादि भावनाऍ फारसी साहित्य की हैं जिनको हिन्दीवालों ने अपना लिया है। जायसी की नागमती भौंरे अथवा कौवे से अपने प्रियतम के पास समाचार भेजती हुई कहती है:—

पिउ सो कहेहु सँदेसड़ा, हे भौंरा हे! काग।
सो धनि विरहै जरि मुई तेहि क धुआँ हम लाग॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की उक्तियो मे सच्चे काव्य के दर्शन नहीं हो सकते। इसमें अस्वाभाविकता ने मजाक का रूप

धारण कर लिया है, काव्य को विकृत कर दिया है। बिहारी ने भी विरह-वर्णन मे दूर की सूझ का बहुत प्रयोग किया है। जायसी मे तो यह प्रवृत्ति अधिक नही पाई जाती। यत्र तत्र ही उन्होने इस भद्दी रुचि का परिचय दिया है, पर बिहारी का तो विरह-वर्णन इससे ओत-प्रोत है। देखिए---

इत आवत चलि जात उत, चली छ सातक हाथ।
चढी हिडोरै सी रहै, लगी उसासनि साथ॥

एक स्थान पर तो बिहारी माह के महिने मे वियोगिनी की आहो से लू तक चला देते हैं।

फारसी का तीसरा प्रभाव बीभत्सता का समावेश है। फारसी-साहित्य मे कोमल भावनाओ के साथ बीभत्सता का ससर्ग खटकता है। जैसे—शृङ्गार-रस के वर्णन मे नायिका की नजर से नायक के शरीर मे घाव हो जाना अथवा नायक के वियोग मे नायिका का सूखकर हड्डियो की ठठरी बन जाना। इस प्रकार की उक्ति से प्रेम की कोमल भावना पर एक दम कुठाराघात होता है। अच्छा हुआ बीभत्सता का प्रभाव हिन्दी के अधिक कवियो पर नही पडा। कुछ थोडे से कवियों की रुचि ही इस कुरुचि-पूर्ण प्रवृत्ति की ओर गई। जायसी तो मुसलमान थे ही। अतः वे इससे बच ही न सके। उन्होने इसको अपने काव्य मे कई जगह स्थान दिया है। जैसे—

हाड़ भए सब किगरि, नसे भई सब ताँति।

यहाँ पर हाड़ो का किंगरि हो जाना या नसो का ताँता हो जाना बीभत्सता का संचारक है।

हिन्दी के श्रेष्ठ कवियो —सूर और तुलसी—पर फारसी की उक्त प्रवृत्तियो का कुछ भी प्रभाव न पड़ा। उनकी रचनाओ मे कहीं भी नाजुकता, दूर की सूझ अथवा बीभत्सता का नमूना देखने को नही मिलता। कहना न होगा कि सूर और तुलसी का हृदय हिन्दू-सस्कृति मे पूर्णतः रँगा हुआ था। उन पर और कोई विदेशी रग नहीं

चढ सकता था। यही कारण है कि उनके काव्य की अंतरात्मा शुद्ध भारतीय है। हॉ, काव्य के बाह्यरूप पर अवश्य विदेशी प्रभाव पडा था। या यह कहना अधिक बुद्धि-सगत होगा कि उन्होंने जान बूझकर अपनी कविता के बाहरी रूप मे फारसी झलक दिखलाई, उसमे फारसी-शब्दो को प्रयुक्त किया। ऐसा करना उस समय की दशा के अनुसार आवश्यक था। जिस समय सूर और तुलसी का आविर्भाव हुआ उस समय हिन्दी-भाषा बहुत कुछ फारसी सॉचे मे ढल चुकी थी। मुसलमानो के शासन के कारण फारसी-मिश्रित हिन्दी का जन-समुदाय मे प्रचार था। शुद्ध हिन्दी को समझने या बोलनेवाले थोडे थे। इन महात्माओं का उद्देश्य अपनी वाणी को प्रत्येक मनुष्य के हृदय तक पहुॅचाना था। अतः ये भाषा का फारसी मिश्रित बोलचाल का रूप लेकर आगे बढे।

जिस प्रकार फारसी का हिन्दी-साहित्य के भाव-क्षेत्र पर प्रभाव पड़ा है उसी प्रकार भाषा पर भी उसका गहरा प्रभाव पडा है। हिन्दी के पद्य-साहित्य मे तो भाषात्मक प्रभाव शब्दो तक ही परिमित रहा है पर गद्य-साहित्य मे वह वाक्य-विन्यास मे भी प्रविष्ट हो गया है। कुछ कवियो ने तो अपनी रचनाओं मे फारसी के शब्दो की झड़ी लगादी है। पद्माकर की कविता का यह नमूना देखिए—

गुलगुली गिलमैं, गलीचा हैं, गुनीजन हैं,
चिक है, चिराकैं हैं, चिरागन की माला है।

इस प्रकार फारसी-शब्दो के बाहुल्य से भाषा का स्वरूप विकृत हो गया है। गद्य मे जहॉ तशरीफ, जिन्दगी, कोम, मकसद आदि शब्दो का प्रयोग होने लगा है वहॉ 'क्या पड़ी है आपको' 'नौकर से कहा उसने', 'जाइए आप' सरीखे वाक्य भी देखने को मिलते है।

भाषा के अतिरिक्त फारसी के बह्रो का भी हिन्दी-कवियो ने सहारा लिया है। खुसरो, नजीर (अकबराबादी), इशाअल्ला खॉ, भारतेन्दु

हरिश्चन्द्र आदि ने फारसी के छन्दों में रचनाएँ की हैं। नजीर का कृष्ण-लीला का यह पद्य देखिए—

वा कृष्ण मदनमोहन ने जब सब ग्वालों से यह बात कही।
औ पापी से झठ गेंद डँडा उस कालीदह में फेंक दई॥
यह लीला है उस नंदलल्लन मनमोहन जसुमति-दैया की।
रख ध्यान सुनो दंडवत करो, जय बोलो कृष्ण कन्हैया की॥

भारतेन्दुजी से लेकर आज तक कविगण बह्रों का प्रयोग करते चले आ रहे हैं।

रचनाशैली में जो चुलबुलाहट, विनोद, व्यंग्य और वक्रता आजकल के कतिपय लेखकों में मिलती है उसका बहुत कुछ श्रेय फारसी को है। फारसी या उर्दू के संसर्ग के ही कारण हिन्दी में ये विशेषताएँ आई हैं। प्रायः देखा जाता है कि जो लेखक उर्दू या फारसी-साहित्य का ज्ञान रखते हैं उनकी हिन्दी में ये गुण विद्यमान रहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्या भाव, क्या भाषा, क्या छंद, क्या रचना-शैली, हिन्दी के सभी अंगों पर फारसी का गहरा प्रभाव पड़ा है।

हिन्दी पर अँगरेजी का भी कम प्रभाव नहीं पड़ा है। अँगरेजों के प्रोत्साहन और सहायता से हिन्दी-गद्य का विकास हुआ है। उसने अँगरेजी-गद्य का अनुकरण करके उसी के अनुरूप शरीर-रचना की है।

पहले नाटक को लीजिए। गद्य के इस अंग पर अँगरेजी का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। हमारे यहाँ नाटकों में रस को प्रधानता दी गई थी। अँगरेजी नाटकों में अन्तःप्रकृति के विश्लेषण द्वारा चरित्र-चित्रण को प्रधानता दी गई है। आजकल के हिन्दी-नाटक अँगरेजी के नाटकों की इस प्रवृत्ति से प्रभावित देखे जाते हैं। उनमें रस के साथ-साथ मानव-प्रकृति को भी समान स्थान दिया जाने लगा है। बाबू जयशंकर 'प्रसाद' के नाटक इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। इसके

अतिरिक्त हमारे प्राचीन नाटक सुखान्त होते थे, दुःखान्त नहीं। सुख-दुःख के घात प्रतिघात अवश्य दिखाए जाते थे, परन्तु उन सबका अवसान आनन्द मे हो जाया करता था। पर आजकल अँगरेजी नाटको के अनुकरण पर दुःखात नाटक भी हिन्दी मे लिखे जाने लगे हैं।

उपन्यास-क्षेत्र मे भी अँगरेजी का बहुत प्रभाव देखा जाता है। सस्कृत के 'कादम्बरी', 'दशकुमार-चरित' आदि पुराने कथात्मक गद्य-प्रबन्धो की भाँति के उपन्यासो का आजकल अभाव है। आजकल के उपन्यासो का ढाँचा बिल्कुल अँगरेजी है। इसके अतिरिक्त वे भारतवर्ष के वास्तविक और स्वाभाविक जीवन को चित्रित नही करते वरन् अँगरेजी-शिक्षित छोटे से समाज के ही जीवन का रूप हमे दिखाते है। यह अच्छा नहीं है। हिन्दी के उपन्यासो को अँगरेजी से प्रभावित होकर इस प्रकार भारतीय सस्कृति का गला नहीं घोटना चाहिए। नाटक की भाँति 'वास्तविकता' की लहर उपन्यास को भी स्पर्श कर रही है।

कहानी नामक गद्य के अग का विकास भी अँगरेजी कहानियों के आधार पर हुआ है, सस्कृत के 'हितोपदेश' अथवा 'राजतरगिणी' के ढग पर नहीं। आजकल की कहानियो मे प्रायः सादे ढग की कुछ घटनाएँ पाठक के सम्मुख रक्खी जाती हैं जैसा कि अँगरेजी कहानियों में होता है।

निबन्ध का लिखना तो हमने अँगरेजी-साहित्य से ही सीखा है। अँगरेजी-साहित्य निबन्धो से भरा-पूरा है। हिन्दीवालो ने इससे बहुत लाभ उठाया है। अब धीरे-धीरे हमारे यहाँ भी अच्छे-अच्छे निबन्ध लिखे जाने लगे हैं। आज हमारे बीच प० रामचन्द्र शुक्ल सरीखे प्रौढ निबन्ध-लेखक विद्यमान हैं। उनके निबन्ध अँगरेजी के उत्कृष्ट निबन्धो से टक्कर लेने योग्य होते हैं।

समालोचना भी अँगरेजी की देन है। पहले हमारे यहाँ समालोचना का प्रचार न था। सस्कृत के आचार्य किसी पुस्तक की समालोचना न देकर लक्षण-ग्रन्थों मे श्रेष्ठ काव्य-रचनाओ को रस, अलकार,

ध्वनि आदि के उदाहरणो के रूप मे और निकृष्ट रचनाओ को दोष के उदाहरणो मे दे दे दिया करते थे। कभी-कभी किसी कवि या लेखक की प्रशसा एकाध श्लोक द्वारा भी कर दी जाती थी। पुस्तकाकार समालोचना का चलन हमारे यहॉ न था। ॲगरेजी मे इस प्रकार की आलोचना का रिवाज है। अतः ॲगरेजी के सम्पर्क मे आने पर उसकी इस विशेषता का हिन्दी पर खूब प्रभाव पडा। आजकल हिन्दी में भी पुस्तकाकार समालोचनाएँ बहुत देखी जाती हैं। यह ॲगरेजी का ही प्रसाद है कि आज हिन्दी में कवि या लेखक की अन्तःप्रकृति की छानबीन करनेवाली समालोचनाओं का बाहुल्य पाया जाता है और तुलनात्मक समालोचना का भी सूत्रपात हो गया।

अब पद्य को लीजिए। ॲगरेजी कविताओ की प्रवृत्तियो से हमारी आधुनिक कविता पूर्णतः प्रभावित हुई है। आजकल ॲगरेजी मे प्रायः प्रगीतात्मक शैली मे कविता हो रही है। हिन्दी मे भी कविता के लिए वर्तमान काल में यही शैली अपनाई जा रही है। प० सुमित्रानदन पत, प० सूर्यकान्त निराला, श्रीमती महादेवी वर्मा प्रभृति कवि इसी शैली मे रचना करते हैं। इसके अतिरिक्त ॲगरेजी कविता अभिव्यजनावाद के प्रवाह मे प्रवाहित हो रही है। उसी की नकल करती हुई हिन्दी-कविता भी अभिव्यंजनावादी हो रही है। 'कला कला ही के लिए' वाद को भी ॲगरेजी-कविता से हिन्दी कविता ग्रहण कर रही है। छायावाद भी ॲगरेजी कविता की देन है। हिन्दीवालो ने इसे बॅगलावालो से और बॅगलावालो ने इसे ॲगरजी-कविता से लिया है। हिन्दी की प्राचीन कविता मे 'रहस्यवाद' का मौलिक एव स्वतंत्र रूप मिलता है, परन्तु आजकल का छायावाद उससे सर्वथा भिन्न है। ॲगरेजी-कविता की भॉति हिन्दी-कविता भी छद-बधन से मुक्त होने का प्रयत्न कर रही है।

हिन्दी भाषा पर भी ॲगरेजी का पर्यात प्रभाव पड़ा है। ॲगरेजी के अगणित शब्द हिन्दी ने पचा लिए हैं। शब्दो ही तक न रहकर

हिन्दी के लेखक तथा कवि अँगरेजी की लाक्षणिक पदावलियो का भी अक्षरशः अनुवाद करके अपनी भाषा मे रखने लगे है। यह प्रवृत्ति अच्छी नहीं है। ऐसा करने से हमारी भाषा की स्वाभाविकता नष्ट हो जायगी। वास्तव मे किसी भी भाषा के मुहावरे या लाक्षणिक पद किसी अन्य भाषा मे अनुवादित नहीं हो सकते। Dreamy splendour' का अनुवाद 'स्वप्निल आभा' और 'Golden dream' का अनुवाद 'स्वर्ण स्वप्न' करके इन्हे हिन्दी मे खपाने का प्रयत्न कभी सफल नहीं हो सकता। भाषा इन शब्दो को कभी नही पचा सकती।

इस प्रकार हम देखते है कि हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य पर फारसी तथा अँगरेजी का पर्याप्त प्रभाव पडा है। इन दोनो भाषाओं के अतिरिक्त अरबी, तुर्की, पुर्तगीज, फ्रच आदि भाषाओ का भी उस पर प्रभाव पडा है। पर यह प्रभाव शब्दो की सख्या परिवर्द्धित करने तक ही परिमित रहा है। विदेशी प्रभाव के सम्बन्ध मे इतना जान लेना चाहिए कि हम सदैव नीर-क्षीर विवेक से किसी विदेशी भाषा की अच्छाइयो को ग्रहण करे और बुराइयो को अपनी भाषा मे प्रविष्ट न होने देने के लिए सतर्क रहे। तभी हमारी भाषा और साहित्य का कल्याण हो सकता है, तभी हमारा साहित्य ससार मे उच्च स्थान पाने का अधिकारी हो सकता है।

वर्तमान शिक्षा-पद्धति ने भारतीय विद्यार्थियों की जो दुर्दशा की है वह किसी से छिपी नही। आजकल यह देखा जाता है कि विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने मे सहस्त्रों रुपए व्यय करते हैं पर स्कूल या कालेज से निकलने के पश्चात् उन्हे कोई टका सेर नहीं पूछता, वे जीविकोपार्जन नही कर सकते। वे दर-दर नौकरियो के लिए फिरते हैं पर उन्हे कही भी नौकरी नही मिलती। शिक्षित नवयुवको मे बेकारी इतनी बढी हुई है कि एक छोटी-सी नौकरी के लिए हजारो ग्रेजुएटो के आवेदन-पत्र आते हैं। शिल्प-कला की शिक्षा का प्रबन्ध न होने के कारण शिक्षित वर्ग कोई उद्योग-धधा करके 'रोटी की समस्या हल नही कर सकता। वह सदैव पराधीन बना रहकर दूसरो का मुँह ताकता रहता है। कितने खेद की बात है कि जो विद्यार्थी अपने आधे जीवन तक शिक्षा की प्राप्ति मे लगा रहता है, जो अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ पढने मे जुटा देता है, जिसका जीवन त्यागमय होता है, वह पेट के लिए तरसे! बेकारी से ऊब कर कितने ही शिक्षित नवयुवक अपने जीवन का अत कर डालते हैं। बहुत से नवयुवक कुशाग्र बुद्धि, अथाह ज्ञान-भण्डार और असीम उत्साह के होते हुए भी मन मारे हुए अपने व्यर्थ जीवन और दूषित शिक्षा पर आँसू बहाते रहते हैं, उसको कोसते रहते हैं। किसी देश के लिए इससे बढकर हृदय-विदारक दृश्य और क्या हो सकता है?

हमारी वर्तमान शिक्षा ने नवयुवको के स्वास्थ्य एव चरित्र पर भी कुठाराघात किया है। आजकल की शिक्षा मनुष्य के शरीर, मस्तिष्क और आत्मा इन तीन अगो मे से मस्तिष्क का ही विकास करती है। शरीर और आत्मा का विकास करना उसका लक्ष्य नहीं। यही कारण है कि स्कूलों और कालेजो मे न तो विद्यार्थियां के स्वास्थ्य पर ध्यान रक्खा जाता है और न उनके चरित्र-गठन पर। शारीरिक व्यायाम के लिए कोई समुचित प्रबन्ध शिक्षालयों मे नही रहता। जब कभी विद्यार्थी-गण फुटबॉल, हॉकी, टैनिस, वौलीबॉल आदि खेल खेल लेते हैं। इन खेलो से कुछ लाभ उठाने का सौभाग्य प्रायः छात्रावास के विद्यार्थियों

को ही रहता है। नगर मे रहने वाले छात्र उससे वचित रहते हैं। उनका शारीरिक विकास नहीं हो पाता। यही कारण है कि शिक्षित मनुष्य का स्वास्थ्य अशिक्षित के स्वास्थ्य की अपेक्षा बहुत बुरा देखा जाता है। शारीरिक विकास से भी बुरी दशा है आत्मिक विकास की। आत्मा को तो वर्तमान शिक्षा ने बिल्कुल भुला दिया गया है। विद्यार्थियो के चरित्र–गठन के लिए शिक्षालयो मे कुछ भी व्यवस्था नही की जाती। न तो कोई उपदेशक रक्खा जाता है, न ईश्वर–वन्दना कराई जाती है, और न सदाचार–सम्बन्धी अथवा धार्मिक भाषण कराए जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विद्यार्थियो का, नवयुवको का, चरित्र दूषित हो जाता है। उनमे सयम, नियत्रण, गुरुजनो के प्रति आदर आदि उदात्त गुण नही पाए जाते। वे श्रेष्ठ नागरिक नहीं बन सकते। कहने की आवश्यकता नहीं कि चरित्र जीवन का सिरमौर है। उसके दूषित हो जाने से मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता। किसी विद्वान् ने कहा भी है—

When wealth is lost nothing is lost,
When health is lost something is lost,
When character is lost everything is lost.

अर्थात् धन के नष्ट होने पर कुछ नष्ट नहीं होता, स्वास्थ्य के नष्ट होने पर कुछ नष्ट होता है और आचरण के नष्ट हो जाने पर सब कुछ नष्ट हो जाता है। जिस चरित्र का जीवन मे इतना अधिक महत्व है उसके विकास के लिए, उसे सुधारने के लिए, वर्तमान शिक्षा कुछ भी प्रबन्ध नहीं करती, यह खेद की बात है।

वर्तमान शिक्षा का माध्यम अँगरेजी भाषा है। इससे भारतवर्ष मे शिक्षा के प्रसार मे तो रुकावट हुई ही है पर सब से बड़ी हानि जो हुई है और हो रही है वह यह है कि हम लोग अपनी सभ्यता और सस्कृति को खो बैठे हैं और खोते जा रहे है। संसार मे भारतवर्ष के अतिरिक्त शायद ही कोई ऐसा सभ्य देश हो जहाँ विदेशी भाषा मे शिक्षा दी जाती हो। यह बात समझ मे नही आती कि कोई देश किस प्रकार

विदेशी भाषा को शिक्षा का माध्यम बना कर उन्नति कर सकता है। शिक्षा के प्रचार में किस प्रकार विदेशी भाषा मातृभाषा की अपेक्षा अधिक सफल हो सकती है? जिस भाषा को बालक बाल्यावस्था में अपनी माता से सीखता है उसी के द्वारा यदि उसको शिक्षित किया जाय तो वह सरलता से शीघ्र शिक्षित हो सकता है। वस्तुतः शिक्षा और मातृभाषा का घनिष्ठ और स्वाभाविक सम्बन्ध है। न जाने क्यों भारतवर्ष में शिक्षा का सम्बन्ध विदेशी भाषा से जोड़कर उलटी गंगा बहाई जा रही है। अँगरेजी द्वारा शिक्षा-प्रचार से देश को भारी हानि पहुँची है। भारतीय स्त्री-पुरुषों में आत्म-सम्मान का, आत्माभिमान का, भाव नहीं रह गया है। हम अपने को सब प्रकार अँगरेजों से नीचा समझने लगे हैं। उन्हीं के ताल-सुर पर हम नाचते हैं। उन्हीं की सभ्यता के हम भक्त हैं। उन्हीं की रहन-सहन, उन्हीं की वेश-भूषा, उन्हीं का खान-पान हमें अच्छा लगता है। हम ऐसा समझने लगे हैं कि प्रत्येक भारतीय वस्तु बुरी है। उसके अपनाने से हम असभ्य गिने जायँगे। हम अपनी मातृभाषा से घृणा करते हैं। उसमें बातचीत करना हमें सभ्य-समाज में क्षुद्र बनाता है। इस प्रकार अँगरेजी की शिक्षा से हम में जातीयता नहीं रह गई है। किसी विद्वान् ने ठीक कहा है, "भाषा की विजय तलवार की विजय से चिरस्थायी होती है।" यह बिल्कुल ठीक है। भारतवर्ष इसका अच्छा उदाहरण है।

वर्तमान शिक्षा की प्राप्ति में विद्यार्थियों को सहस्रों रुपए व्यय करने पड़ते हैं। देश की आर्थिक स्थिति को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि सर्वसाधारण ऐसी बहुमूल्य शिक्षा को नहीं प्राप्त कर सकता। तब बिना शिक्षा के किस प्रकार देश की उन्नति हो? हम तो यह समझते हैं कि जिस प्रकार कई देशों में निःशुल्क शिक्षा दी जाती है उसी प्रकार दरिद्र भारत-वर्ष में भी सरकार को कम से कम निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। जिस प्रकार प्रजा की रक्षा करना राजा का धर्म है उसी प्रकार प्रजा को सुशिक्षित बनाना भी राजा का धर्म होना चाहिए।

वर्तमान शिक्षा-पद्धति के अनुसार विद्यार्थी को कई विषयो का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य होता है। उसका उद्देश्य विद्यार्थी को, 'Jack of all but master of none' अर्थात् सभी विषयो का ज्ञाता बनाना है पर किसी भी विषय का पडित नहीं। अतः विद्यार्थी को बी० ए० तक कई विषय सीखने पडते हैं। केवल एम० ए० में जाकर एक विषय रह जाता है। यह अच्छा नहीं है। यह तो वाञ्छनीय है कि हाईस्कूल तक विद्यार्थी को कुछ आवश्यक विषयो का स्थूल ज्ञान करा दिया जाय। पर हाईस्कूल के पश्चात उसे केवल एक ही विषय की शिक्षा मिलनी चाहिए। वह अपनी रुचि के अनुसार कोई भी विषय चुन ले। प्रायः यह देखा जाता है कि विद्यार्थी को कई विषय पढने पडते हैं जिनमे कुछ ऐसे भी होते है जो उसको रुचिकर नहीं होते। मनोविज्ञान यह बतलाता है कि प्रत्येक मनुष्य किसी एक ही विषय मे सबसे अधिक रुचि रखता है। फलतः बेचारे विद्यार्थी की शक्तियाँ अरुचिकर विषय के अध्ययन मे व्यर्थ नष्ट होती है। यहाँ तक कि वह कई बार परीक्षा मे अनुत्तीर्ण होता है और दूषित शिक्षा-पद्धति को कोसता है। यदि वह अपने एक रुचिकर विषय मे सम्पूर्ण शक्तियो को लगाता तो बहुत शीघ्र उस विषय का पूर्ण ज्ञाता हो जाता और उसका जीवन भी आनन्दमय रहता। कई विषयो के भार से लदा रहने के कारण वह किसी भी विषय का समुचित ज्ञान नही प्राप्त कर पाता। उसका प्रत्येक विषय का ज्ञान अधूरा रहता है जिससे उसे विशेष लाभ नही होता प्रत्युत हानि की संभावना रहती है। किसी विद्वान ने कहा भी है—A little knowledge is a dangerous thing अर्थात् थोड़ा ज्ञान भयावनी वस्तु है।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के अनुसार योग्यता की कसौटी परीक्षा है। किसी विषय की परीक्षा मे उत्तीर्ण होने के पश्चात् मनुष्य उस विषय का ज्ञाता समझा जाता है। यह भी आजकल की शिक्षा में एक दोष है। तीन घटे मे थोड़े से प्रश्नो द्वारा किसी के ज्ञान का पता

नही चल सकता। यह देखा गया है कि बहुत से विषय के अच्छे जानने वाले विद्यार्थी कभी-कभी परीक्षा में असफल हो जाते हैं और विषय को कुछ भी न समझने वाले सफल। इससे तो यही प्रमाणित होता है कि परीक्षा किसी के ज्ञान की सच्ची कसौटी नही है। यदि परीक्षा के साथ-साथ विद्यार्थियो के उत्तीर्ण और अनुत्तीर्ण करने में अध्यापको का भी हाथ रहे तो अच्छा हो, क्योकि वे उनकी योग्यता का ठीक परिचय रखते है। इस व्यवस्था मे अध्यापक–गण विद्यार्थियो के कक्षा मे किए हुए कार्य का विशेष ध्यान रखा करे, यह आवश्यक है।

आजकल की शिक्षा व्यावहारिक भी नही है। वह पुस्तक–गत ज्ञान ही प्रदान करती है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जिन कार्यों मे शारीरिक परिश्रम वाछनीय है उन्हे शिक्षित–समाज घृणा की दृष्टि से देखता है। नौकरियो के अभाव में पुस्तक–गत ज्ञान से जीविका का प्रश्न हल नही हो सकता। अब तो खेती, व्यापार, शिल्पादि की शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी। स्कूलों और कॉलेजो में जब औद्योगिक, व्यापारिक तथा कृषि–सम्बन्धी शिक्षा प्रदान की जायगी तभी हमारे नवयुवको की स्थिति सुधर सकती है, अन्यथा नही।

वास्तव मे आजकल की हमारी प्रारम्भिक, माध्यमिक और विश्व-विद्यालीय सभी शिक्षा दोष–पूर्ण है। उसमे सुधार की नितान्त आवश्यकता है। हर्ष का विषय है कि हमारी काग्रेस सरकार का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट हुआ है और शिक्षा–पद्धति मे सुधारो की योजना हो रही है। अभी हाल मे यू॰ पी॰ की सरकार ने बेसिक शिक्षा का सूत्रपात किया है और विश्वविद्यालीय शिक्षा के सुधारों की रूप–रेखा निर्धारित करने के लिए एक कमेटी स्थापित की है। आशा है निकट भविष्य में हमारी शिक्षा दोषो से मुक्त होकर हमारे कल्याण का साधन होगी।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कार्य-क्षेत्र के आते ही हिन्दी में समुन्नति का युग आया

रूप-रेखा :—

(१) प्रस्तावना—भारतेन्दुजी का महत्व

(२) भारतेन्दुजी का हिन्दी-गद्य के पूर्व-लेखकों की अपेक्षा कहाँ श्रेष्ठ होना

(३) भारतेन्दुजी द्वारा हिन्दी-पद्य की भाषा का परिमार्जन

(४) भारतेन्दुजी द्वारा हमारे साहित्य का नए नए विषयों की ओर उन्मुख करना

(५) भारतेन्दुजी की कविताएँ—

(क) शृङ्गारी

(ख) देश-भक्ति-रंजित

(ग) भक्ति-सम्बन्धी

(घ) समाज-सुधार-गर्भित

(६) भारतेन्दुजी का प्रकृति से अनुराग

(७) भारतेन्दुजी द्वारा कविता की रचना-शैली में परिवर्तन

(८) भारतेन्दुजी का गद्य

(क) नाटक और (ख) लेख

(९) उपसहार—सारांश

हिन्दी-साहित्य के पद्य-क्षेत्र मे जितना आदर गोस्वामी तुलसीदास का है गद्य-क्षेत्र में उससे कम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नहीं। गोस्वामीजी

ने कविता को उत्कर्ष की चरम कोटि पर पहुँचाया तो भारतेन्दुजी ने गद्य की प्राण-प्रतिष्ठा की। इनसे पूर्व हिन्दी-गद्य अपना रूप ही स्थिर करने मे लगा हुआ था। उसका आरम्भ करनेवाले मुशी सदासुखलाल, इशाअल्ला खॉ, लल्लूजीलाल और सदलमिश्र नामक महानुभाव हुए। इन चारो की भाषा का रूप भिन्न-भिन्न था। वास्तव मे ये गद्य का नमूना उपस्थित करने वाले थे। इनमे से किसी ने प्रौढ़ गद्य का रूप स्थिर नही किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसके रूप को सुव्यवस्थित किया और उसमे प्रौढ रचनाएँ की। अतः इन्हे हिन्दी-गद्य का प्रवर्त्तक मानना चाहिए।

इनका प्रभाव भाषा और साहित्य दोनो पर बड़ा गहरा पडा। इन्होने भाषा का परिमार्जन किया और साहित्य को नया मार्ग दिखलाया। मुशी सदासुखलाल की भाषा पडिताऊ थी, लल्लूजीलाल की भाषा मे व्रजभाषापन था, सदलमिश्र की भाषा मे पूरबीपन था और इशाअल्ला खॉ की भाषा फारसीपन लिए हुए थी। राजा शिवप्रसाद का उर्दूपन शब्दो ही तक न रह कर वाक्य-विन्यास तक पहुँच गया था। राजा लक्ष्मणसिह की भाषा मे आगरे की बोली का पुट था। भारतेन्दुजी ने भाषा का परिष्कार किया। इन्होने ही पहले पहल भाषा मे विनोद का समावेश किया और उसे चलता रूप प्रदान किया।

गद्य की भाषा को तो इन्होने प्रौढता प्रदान की ही, साथ मे पद्य की व्रजभाषा का भी सस्कार किया। पुराने शब्दो का प्रयोग कविता मे बराबर होता आरहा था। 'चक्कवै', 'ईठ', 'करसायल', 'ठायो' आदि शब्द इसी प्रकार के थे। भारतेन्दुजी ने इन पुराने शब्दो को काव्य-भाषा से हटाया। इसके अतिरिक्त कविता की भाषा मे एक भयकर दोष यह चला आरहा था कि कवि गण शब्दों को अपने इच्छानुसार तोड़ा-मरोड़ा करते थे। भारतेन्दुजी की आत्मा इससे व्यथित हुई और इन्होंने इस दोष का बहुत कुछ परिष्कार किया।

सब से महत्वपूर्ण कार्य भारतेन्दुजी ने यह किया कि उन्होने हमारे

साहित्य को नए-नए विषयो की ओर उन्मुख किया। ये साहित्य मे नए युग के सूत्रधार हुए। अभी तक साहित्य और समाज मे विच्छेद पड़ा हुआ था। शिक्षा के प्रसार से मनुष्यो के हृदय मे देश भक्ति, समाज-सुधार आदि की उमगे उठ रही थीं पर साहित्य अपने पुराने मार्ग पर ही चला जा रहा था। उसमे भक्ति या शृङ्गार की पद्य-रचनाएँ ही हो रही थी, देश-प्रेम या समाज-सुधार का नाम तक नहीं था। भारतेन्दुजी ने साहित्य-धारा को दूसरी ओर मोड़ कर उसे जीवन से जोड़ दिया।

भारतेन्दुजी ने पद्य और गद्य दोनो में अनेक रचनाएँ कीं और हिन्दी-साहित्य के भडार को भरा। पहले इनकी कविताओ को लीजिए। ये बड़े भावुक और सहृदय कवि थे। इन्होंने जहाँ शृङ्गार-रस के मार्मिक कवित्त-सवैये लिखे वहाँ कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी मर्मस्पर्शी रचनाएँ भी कीं। इन्होने जहाँ देश-भक्ति पर कविताएँ लिखीं वहाँ समाज सुधार को भी काव्य का विषय बनाया। इनके कवित्त-सवैये रस की पिचकारियाँ है जो श्रोता या पाठक को रस-सिक्त किए बिना नहीं छोडती। उनको सर्वसाधारण ने इतनी शीघ्रता से अपनाया कि भारतेन्दुजी के समय मे ही उनका पर्याप्त प्रचार हो गया। वे इधर उधर लोगों के मुँह से सुनाई पड़ने लगे। भारतेन्दुजी की देश-भक्ति-सम्बन्धी रचनाएँ जनता को जाग्रत करने लगीं। इन्होने लोगो को विदेशी भाषा के मोह मे फँसकर अपनी मातृभाषा न भुला देने के लिए सचेत किया। वस्तुतः भारतेन्दुजी मे प्राचीनता और नवीनता का सुदर समन्वय था। इनकी कविताएँ इस तथ्य की परिचायक हैं। इनकी मातृभाषा-प्रेम-सम्बन्धी कविताओ के कुछ नमूने देखिए—

अँग्रेजी पढि के जदपि सब गुन होत प्रवीन।
पै निज भाषा ज्ञान बिन रहत हीन के हीन॥

× × × ×

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल॥

इनकी शृङ्गारी कविता के कुछ नमूने देखिए—

बिछुरे पिय के जग सूनो भयो, अब का करिये कहि पेखिये का ?
सुख छाँड़ि के सगम को तुम्हरे, इन तुच्छन को अब लेखिये का ?
हरिचंद जू हीरन को व्यवहार कै, काँचन को लै परखिये का ?
जिन आँखिन मे तुव रूप बस्यो, उन आँखिन सो अब देखिये का ?

× × × ×

आजु लौ जौ न मिले तो कहा, हम तौ तुम्हरे सब भाँति कहावै ।
मेरो उराहनो है कछु नाहिं, सबै फल आपने भाग को पावै ॥
जो हरिचन्द भई सो भई, अब प्रान चले चहैं तासो सुनावै ।
प्यारे जू ! है जग की यह रीति, बिदा के समय सब कठ लगावै ॥

× × × ×

यह सग मैं लागियै डोलै सदा विन देखे न धीरज आनती हैं ।
छिनहू जो वियोग परै 'हरिचन्द' तौ चाल प्रलै की सुठानती हैं ॥
बरुनी मे थिरै न झपै उझपै पल मैं न समाइबो जानती हैं ।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नही मानती हैं ॥

× × × ×

भक्ति की भी इन्होने सुन्दर रचनाएँ की । लोक पर दृष्टि रखते हुए भी इन्हे एक भक्त हृदय प्राप्त था । राधा–कृष्ण की भक्ति मे झूमते हुए ये मधुर राग अलापते थे । देखिए—

ब्रज के लता पता मोहि कीजै ।
गोपी पद–पकज पावन की रज जामैं सिर भीजै ।
आवत जात कुंज की गलियन रूप सुधा नित पीजै ।
श्री राधे राधे मुख यह वर मुँह माग्यो हरि दीजै ॥

भारतेन्दुजी की देशभक्ति की भावना कुछ विचित्र ढग की थी । ये, अँगरेजी राज्य के साथ साथ देशोन्नति के मार्ग में अग्रसर होना ही देश–भक्ति मानते थे । स्वावलंबन पर स्थित देश–भक्ति की ओर इनका झुकाव न था । देखिए—

अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी ॥

'नीलदेवी', 'भारत दुर्दशा' आदि नाटको के भीतर आई हुई कविताओं मे देश की दशा का जो मार्मिक चित्रण है वह तो है ही, अनेक ऐसी स्वतंत्र कविताएँ भी इन्होने की जिनमे इन्होंने भारतवर्ष की अधोगति पर आँसू बहाए।

भारतेन्दुजी के समय मे समाज-सुधार के नवीन ढग के विचार उतने नहीं उठ पाए थे, फिर भी इन्होंने अपने समाज के दोषो को देखकर उनके सुधार मे अपनी वाणी का प्रयोग किया। जो लोग दोषपूर्ण मार्ग पर चल रहे थे उन्हे उस पर चलने से रोकने का प्रयत्न किया। देखिए निम्नाकित दो पक्तियो में विधवा-विवाह और विदेश-यात्रा का पृष्ठ-पोषण करते हुए इन्होने क्या कहा है—

बिधवा ब्याह निषेध कियो बिभिचार प्रचार्यो।
रोकि विलायत गमन कूप मड्रूक बनायो ॥

हिन्दी-साहित्य के इने-गिने कवियो को छोड़कर प्रायः कवि प्रकृति की ओर उदासीन रहे। नवरस की सकुचित सीमा के वातावरण में प्रकृति को स्थान ही कहाँ रह गया था? उद्दीपन-रूप मे कमल, चन्द्रमा उपवन, आदि को स्थान मिल जाता था, अथवा अलकार-सामग्री के रूप मे कविगण प्रकृति का उपयोग करते थे। अँगरेजी-साहित्य के सम्पर्क से हमारे साहित्य पर प्राकृतिक चित्रणो का प्रभाव पड़ा। भारतेन्दुजी ने ही इस दिशा में पहले-पहल पदार्पण किया। यद्यपि इनकी कविताओं में विशुद्ध प्राकृतिक वर्णनो का अभाव है फिर भी इस विषय की रचनाएँ उनकी उस वृत्ति की सूचना अवश्य देती हैं जो प्रकृति के सुन्दर दृश्यो से अनुराग रखती है। ये गंगाजी का वर्णन करते हुए कहते हैं —

नव उज्जल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरत बूँद मध्य मुक्ता मनु पोहति ॥

भारतेन्दुजी के कार्य-क्षेत्र में आते ही हिन्दी-काव्य मे अनेक नवीन विषयो का समावेश तो हुआ ही, पर साथ में उन विषयों की रचना-प्रणाली का ढग भी परिवर्तित हुआ। मुक्तक और प्रबन्ध की जो प्रणाली चली आरही थी उससे कुछ भिन्न प्रणाली का अनुसरण हुआ। अनेक साधारण विषयो पर छोटे-छोटे पद्यात्मक निबन्ध लिखने की परिपाटी चली। बुढापा, गोरक्षा, मातृभाषा, मातृस्नेह आदि विषयों पर निबन्ध लिखे जाने लगे। इस प्रकार की नवीन प्रवृत्तियो को लेकर भारतेन्दुजी काव्य-क्षेत्र मे आगे बढ़े और अपने समय के अनेक कवियो को भी अपने साथ लेते चले। इनमे प्रतापनारायण मिश्र, अंबिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास, बद्रीनारायण चौधरी और श्रीधर पाठक प्रधान थे। काव्य के उस समुन्नत युग को भारतेन्दु-युग कहते है।

जिस प्रकार कविता के क्षेत्र मे भारन्दुजी ने नवीनता की धारा बहाकर अपनी अनुपम प्रतिभा का परिचय दिया उसी प्रकार हिन्दी-गद्य को विकसित करके और उसमें नाटक, लेख और उपन्यास का सूत्र-पात करके इन्होंने साहित्य के एक प्रधान अग की पूर्ति की। हिन्दी मे पत्र-पत्रिकाओ के दर्शन भारतेन्दुजी के समय से ही होने लगे। 'कवि वचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' आदि कई पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी। पत्रिकाओ मे भारतेन्दुजी स्वय तो लिखते ही थे, बहुत से और लेखको को भी इन्होने प्रोत्साहित किया। बद्रीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र, श्री निवासदास, अम्बिकादत्त व्यास आदि कई प्रतिभा सम्पन्न लेखको ने भी भारतेन्दुजी के कार्य मे योग दिया। भारतेन्दुजी ने स्त्री-शिक्षा के लिए भी 'बालाबोधिनी' नामक एक पत्रिका निकाली।

इधर हिन्दी नाटक-क्षेत्र बिल्कुल सूना पड़ा था। भारतेन्दुजी के पूर्व केवल दो नाटक लिखे गए थे। एक रघुनाथसिंह-कृत 'आनन्द-रघुनन्दन' और, दूसरा इनके पिता गोपालचन्द्र रचित 'नहुष' नाटक था। भारतेन्दुजी ने अनेक मौलिक और अनुवादित नाटक लिखे। वैदिकी

हिंसा हिंसा न भवति, कर्पूर मंजरी, सत्यहरिश्चन्द्र, चन्द्रावली, भारत-दुर्दशा, अंधेरनगरी, नीलदेवी, मुद्राराक्षस आदि बहुत से नाटकों की इन्होंने रचना की। इन नाटकों में पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक सभी प्रकार के नाटक थे।

उधर उपन्यास का हिन्दी में नाम तक न था। भारतेन्दुजी ने स्वयं तो कोई उपन्यास नहीं लिखा परन्तु अपने सहयोगी विद्वानों को इस अभाव की पूर्ति करने में अवश्य संलग्न किया। निबन्धों का आरम्भ भी भारतेन्दुजी के समय से ही हुआ। इन्होंने स्वयं कई लेख लिखे। इनके मित्रों ने निबन्ध-परम्परा को आगे बढ़ाया। जीवन-चर्या, ऋतु-चर्या, पर्व, त्यौहार आदि पर खूब निबन्ध लिखे जाने लगे। होली, विजयादशमी, दीपावली, रामलीला आदि पर लिखे निबन्धों में समाज के जीवन का अच्छा पुट रहता था। उस समय वर्णनात्मक निबन्धों की प्रचुरता रही। उनमें आजकल का सा सूक्ष्म विवेचन नहीं मिलता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपनी बहून्मुखी प्रतिभा के बल से भारतेन्दुजी ने हिन्दी में समुन्नति के युग का सूत्रपात किया। क्या भाषा, क्या साहित्य, क्या गद्य, क्या पद्य, प्रत्येक क्षेत्र में इनकी प्रतिभा ने प्रकाश फैला कर उसको आलोकित किया। जिस प्रकार इन्होंने कविता को नवीन मार्ग दिखलाया उसी प्रकार गद्य के भिन्न-भिन्न अंगों की पूर्ति की। जिस प्रकार इन्होंने पद्य की भाषा को सुसंस्कृत किया उसी प्रकार गद्य की भाषा को भी परिष्कृत किया। काव्य में देश-प्रेम और समाज-सुधार का मंगल-मंत्र फूँककर इन्होंने सुसुप्त हिन्दू-समाज को जाग्रत किया। जब तक हिन्दी-भाषा और हिन्दू-जाति रहेगी तब तक भारतेन्दुजी का नाम अजर अमर रहेगा। श्रीधर पाठक ने ठीक ही कहा है—

जबलौं भारतभूमि मध्य आरजकुल बासा।
जबलौं आरजधर्म माहिं आरज बिश्वासा॥

जबलौं गुन आगरी नागरी आरज बानी।
जबलौं आरज बानी के आरज अभिमानी ॥
तबलौं यह तुम्हरो नाम थिर चिरजीवी रहि है अटल।
नित चद सूर सम सुमिरिहैं हरिचदहु सज्जन सकल ॥

नाट्यकला का सामाजिक जीवन पर प्रभाव

रूप-रेखा :—

(१) प्रस्तावना—साहित्य और समाज का सम्बन्ध
(२) साहित्य के दो भेद और नाटक का अन्य साहित्यिक अङ्गों की अपेक्षा अधिक प्रभाव डालने वाला होना
(३) नाटक के अभिनयादि अङ्ग
(४) पात्रों के चरित्र का समाज पर प्रभाव
(५) वस्तु द्वारा समाज-सुधार आदि की योजना
(६) वस्तु द्वारा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति
(७) भारतीय धर्म-प्रधान नाटकों का समाज पर प्रभाव
(८) भारतीय नाटकों के आदर्शवाद का सामाजिक जीवन पर प्रभाव
(९) नाट्यकला द्वारा समाज का मनोरंजन
(१०) उपसंहार—नाटक का महत्व

साहित्य सदैव समाज को प्रभावित करता रहता है और उससे स्वय भी प्रभावित होता रहता है। जैसा साहित्य होगा वैसा ही उस साहित्य से सम्बन्धित समाज होगा और जैसा समाज होगा वैसे ही साहित्य की उद्भावना होगी। क्यो ? बाल्यावस्था से ही मनुष्य जब लिखना पढ़ना आरम्भ करता है वह अपने परम्परागत साहित्य के सम्पर्क मे आता है। जैसे जैसे बालक बड़ा होता जाता है यह सम्पर्क अधिक होता जाता है। यह वह अवस्था होती है जब मनुष्य पर सब से अधिक प्रभाव पड़ता है। अतः साहित्यिक संस्कृति, साहित्यिक भावनाएँ उसी

समय से बालक पर अपनी छाप डालना आरम्भ कर देती हैं। इसके अतिरिक्त माता-पिता के संसर्ग से बालक जो कुछ सीखता है उसमे भी साहित्य अपना स्थान रखता है, क्योंकि माता-पिता उसी के वातावरण मे रहते है। बडा होने पर वह बालक साहित्य की प्रवृत्तियो से ओत-प्रोत हुआ रहता है। इस प्रकार व्यष्टि रूप मे समाज साहित्य से बहुत कुछ ग्रहण करता रहता है। समाज के बनाने या बिगाड़ने मे, उसको पुष्ट या कमजोर करने मे, साहित्य का हाथ अवश्य रहता है, पर उसके अतिरिक्त अन्य बाते भी उत्तरदायी होती हैं। समाज का जैसा रूप होगा साहित्य का उससे भिन्न रूप नही रह सकेगा। साहित्य का उत्पादक समाज है। तब यह कब सभव है कि साहित्य समाज से प्रभावित न हो? वस्तुतः साहित्य और समाज मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

साहित्य दो प्रकार का होता है—(१) श्रव्य और (२) दृश्य। श्रव्य साहित्य सुनने से आनन्द देता है। उसका प्रधान सम्बन्ध श्रवणों से होता है, जैसे कविता आदि। दृश्य साहित्य देखने से आनन्द देता है। उसका मुख्य सम्बन्ध नेत्रो से है, जैसे नाटक। यो तो श्रव्य और दृश्य दोनो ही प्रकार के साहित्य सामाजिक जीवन की धारा को अपनी ओर मोड़ते रहते है, परन्तु दृश्य साहित्य इस कार्य मे सरलता से सफल होता है। कविता, कहानी और उपन्यास का मानव-जीवन पर प्रभाव पड़ता अवश्य है किन्तु उतना नही जितना नाटक का। श्रोता को किसी भाव मे मग्न करने के लिए श्रव्य साहित्य के इन अङ्गो मे कल्पना की अधिक आवश्यकता पडती है। उसे अपने नेत्रो के सामने कल्पना की सहायता से किसी घटना या किसी व्यापार का चित्र उपस्थित करना पड़ता है। नाटक मे ऐसा करने की आवश्यकता नही पड़ती। नाट्य-कला रगमच पर प्रत्येक घटना, प्रत्येक व्यापार, का साक्षात रूप हमारे नेत्रो के समक्ष उपस्थित करती है। वह कल्पना के लिये कोई कार्य नही छोडती। उसमे सजीवता तथा प्रत्यक्षानुभव की छाया रहती है।

नाट्यकला द्वारा नाटककार जैसा प्रभाव डालना चाहे डाल सकता

है। अभिनय नाट्यकला का प्राण है। इससे नाटक में सजीवता आ जाती है। जब हम नाटक का अभिनय देखते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि सचमुच घटनाएँ हमारे नेत्रों के सामने हो रही हैं। उस समय क्षण भर के लिए हम यह भूल जाते हैं कि हम घटनाओं की नकल देख रहे हैं। नाटककार जीवन की जिन समस्याओं और दशाओं का प्रतिपादन अपनी रचना में करता है वे सब हम पर अपना चिरस्थायी प्रभाव डालती है। नाट्यकला के छः तत्व होते हैं-(१) वस्तु (२) पात्र (३) कथोपकथन (४) देशकाल (५) शैली और (६) उद्देश्य। नाटक में एक कहानी रहती है जिसको वस्तु कहते हैं। कहानी का सम्बन्ध जिन मनुष्यों से होता है वे पात्र कहलाते हैं। वे मनुष्य आपस में जो बातचीत करते हैं उसे कथोपकथन कहा जाता है। कहानी का सम्बन्ध जिस समय और जिस स्थान से होता है वे देशकाल कहलाते हैं। नाटककार जिस ढंग से अपनी सामग्री को नाटक में सजाता है उसे शैली कहते हैं। जिस लक्ष्य को ध्यान में रखकर वह नाटक की रचना आरम्भ करता है और अन्त में सब दर्शकों को उसका ज्ञान कराता है। वह लक्ष्य नाटक का उद्देश्य कहा जाता है। इन सब तत्वों में प्रधान तत्व पात्र और वस्तु हैं। नाटक के पात्र नाटककार के हाथ में कठपुतली की तरह नाचते हैं। वे दो प्रकार के होते हैं—अच्छे और बुरे। श्रेष्ठ पात्रों का प्रभाव अच्छा पड़ता है। बुरे पात्रों की भी नाटक में आवश्यकता होती है, क्योंकि अच्छे पात्रों का महत्व बुरे पात्रों के सम्पर्क में आने से स्पष्ट होता है। भिन्न-भिन्न पात्र समाज के चरित्र-गठन पर प्रभाव डालते हैं। यद्यपि नाटक मनोरंजन का साधन है तो भी उससे सामाजिक जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। नाटककार जिन भावनाओं का संचार समाज में करना चाहता है उनका समावेश अपने श्रेष्ठ पात्रों में करता है। पात्रों में एक सर्वप्रधान होता है जिसको नायक कहते हैं। नाटक में नायक के जीवन का चित्र रहता है। दर्शकों को यह दिखलाया जाता है कि कैसी-कैसी परिस्थितियों में पड़कर

नायक अपनी जीवन-नौका को आगे बढाता है कभी उसकी नौका भॅवर मे पड़ती है और कभी वह थिरकती हुई चली जाती है। जीवन-नौका एक ओर जा रही थी, ऐसे ही समय धक्का लगकर उसकी गति दूसरी ओर फिर गई, उसके पश्चात् एक और धक्के ने उसको दूसरी ही ओर फेर दिया—नाटक मे यही दिखाया जाता है। घटनाओं का घात-प्रतिघात और हृदय का अन्तर्विद्रोह दिखाकर नाटक जीवन को अत्यन्त अधिक प्रभावित करता है।

सामाजिक जीवन के दोषों का उद्घाटन तथा सामाजिक कुरीतियो का निराकरण करना नाटक का प्रधान कर्तव्य है। नाटककार वस्तु में किसी समाज का चित्र चित्रित करता है, उसमे पाई जाने वाली रीतियों का, रिवाजो का, दिग्दर्शन कराता है। यह वस्तु द्वारा राष्ट्रीयता, देश-प्रेम, सामाजिक सुधार, राजनैतिक आन्दोलन आदि का चित्रण करता है। वह वस्तु द्वारा अछूतोद्धार करा सकता है, विधवा-विवाह के लिए मनुष्यो को बाध्य कर सकता है, बाल-विवाह रोक सकता है, पर्दे की कुप्रथा का अन्त कर सकता है और स्त्री-शिक्षा की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कर सकता है। वह वस्तु द्वारा समाज में स्वतन्त्रता का मन्त्र फूॅक सकता है और लोगों को देश और जाति पर बलिदान होने के लिए उत्तेजित कर सकता है। जिस कुरीति का उसे खंडन करना होता है उसका अनुगामी प्रायः वह अपने नायक को बतलाता है और फिर वस्तुके विकास में वह उस रीति के दुष्परिणाम दिखलाता है। अन्त में या तो वह नायक द्वारा उस कुरीति का त्याग कराता है या नायक का सर्वनाश। जैसे यदि हिन्दू-समाज में विधवा-विवाह-निषेध की कुरीति का उसे खडन करना है तो वह कुछ इस प्रकार नाटक की रचना करेगा। समाज में प्रतिष्ठित एक व्यक्ति दीनानाथ हैं। उनकी एकमात्र सतान सुशीला है। वे सुशीला को बहुत स्नेह करते हैं। चौदह वर्ष की आयु में वे सुशीला का पाणिग्रहण एक शिक्षित, सुन्दर तथा धनिक युवक के साथ करा देते हैं। दुर्भाग्यवश दो ही

वर्ष पश्चात् सुशीला के पति की मृत्यु हो जाती है, उसकी माँग का सिन्दूर हट जाता है। दीनानाथ विधवा-विवाह-विरोधी है। उधर सुशीला को वैधव्य असहनीय हो जाता है। वह एक दिन अपने पिता से अपने पुनर्विवाह की प्रार्थना करती है। परन्तु पिता उसकी प्रार्थना को स्वीकार नहीं करता। लाचार होकर सुशीला किसी नवयुवक के प्रेम में पड़कर उसके साथ अज्ञात स्थान को भाग जाती है। समाज में इस कार्य की घोर निन्दा होती है। दीनानाथ के सिर कलंक का टीका लग जाता है। समाचारपत्रों मे चारो ओर उसकी टीका-टिप्पणी होने लगती है। दीनानाथ घोर मानसिक सताप के कारण पागल हो जाते हैं और एक दिन आत्म-हत्या कर लेते हैं। इस प्रकार नाटककार दर्शको के हृदय मे समाज की कुरीतियो के प्रति घृणा एव द्वेष के भाव उत्पन्न करता है और धीरे-धीरे उनके उन्मूलन मे सहायक होता है। इ प्रकार सामाजिक जीवन मे उलट फेर होता रहता है।

जिस प्रकार सामाजिक कुरीतियो के बहिष्कार मे नाट्यकला योग देती है उसी प्रकार वह श्रेष्ठ रीति-रिवाजो के प्रति श्रद्धा-भाव उत्पन्न करके उनकी जड़े पुख्ता करती है, उसी प्रकार वह अन्य समाजो की अच्छाइयो का अपने समाज मे प्रवेश कराके उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति करती है। जैसे—हमारे समाज मे देश-प्रेम, राष्ट्रीयता आदि की भावनाओ का नितान्त अभाव रहा है। इँगलैण्ड इत्यादि विलायती साहित्य इन भावनाओ से ओत-प्रोत हैं। स्व० बाबू जयशकर 'प्रसाद' प्रभृति नाटककारो ने इन भावनाओं की आवश्यकता का अनुभव किया और 'चन्द्रगुप्त' 'स्कन्दगुप्त' आदि स्वदेश-प्रेम-प्रधान नाटको की रचना की। फलतः आज हमारे समाज मे राष्ट्रीयता की लहर उठ रही है, आज सामाजिक जीवन में राष्ट्रीयता को सर्वोच्च स्थान मिल रहा है।

अब तक भारतीय नाट्यकला धर्म-प्रधान रही है। इधर कुछ वर्षों से अवश्य राष्ट्रीय नाटक लिखे जाने लगे हैं। पहले 'भक्त प्रहलाद',

'महात्मा बुद्ध', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'श्रवणकुमार' सरीखे नाटक ही अधिक लिखे गए। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारा समाज 'धर्मप्राण' हो गया। आज भी प्रत्येक हिन्दू प्रत्येक कार्य को धर्म की कसौटी पर कसकर उसकी अच्छाई या बुराई निर्धारित करता है। जब साहित्य धार्मिकता मे डूबा हुआ होगा तो फिर समाज क्यो न वैसा होगा ?

हमारे नाटको की प्रवृत्ति आदर्शवाद की ओर रही है। हमारे नाटको मे सदैव दुर्गुणों पर सद्गुणो की विजय दिखलाई गई है। आचार्यों ने नाटक के नायक में उदात्त वृत्तियो का होना आवश्यक ठहराया है। यद्यपि नायक के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं, अनेक दुराचारी उसको कुचलने के प्रयत्न करते है, तो भी अत में विजय नायक की ही होती है। यदि कही दुराचारी नायक भी रक्खा गया है तो उसको किसी महात्मा के सम्पर्क अथवा स्वीय पश्चात्ताप की आँच द्वारा सुधार दिया गया है। इस आदर्शवाद की प्रवृत्ति का सामाजिक जीवन पर यह प्रभाव पड़ा है कि उसमे चारित्रिक बल प्रचुर मात्रा मे देखा जाता है। हमारे समाज ने ऐसी-ऐसी महान आत्माओ को जन्म दिया जिनमें सद्गुणो की पराकाष्ठा हो गई थी। आज भी गाधीजी सरीखी आत्माएँ इस कथन का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

नाट्यकला समाज का मनोरजन करती है। दिन भर के परिश्रम से श्रान्त मनुष्य अभिनय देखकर मन बहलाते है और शाति प्राप्त करते है। उनकी दिन भर की थकान दूर हो जाती है। कहने की आवश्यकता नही कि जीवन मे मनोरजन का कितना महत्व है। नाट्य-कला मनोरजन के साथ साथ समाज की आलोचना भी करती है। वह मनुष्य के हृदय मे रसोद्रेक करती हुई समाज के कलुषित रूप को दिखाती है और काता-सम्मत उपदेश देती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि नाटक सदैव समाज

को प्रभावित करता रहता है। साहित्य और समाज में घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य समाज के मस्तिष्क का भोजन है। जैसा साहित्य होगा समाज भी वैसा ही होगा। नाटक साहित्य का अजीव अंग है। अतः अन्य अंगो की अपेक्षा इसका प्रभाव अमोघ एव चिरस्थायी होता है।

साहित्य समाज का दर्पण है

रूप-रेखा :—

(१) प्रस्तावना—साहित्य का रूप

(२) साहित्य की उपयोगिता

(३) साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध

(४) साहित्य के उत्पादक मनुष्य पर सामाजिक वातावरण का प्रभाव

(५) समाज का साहित्य पर प्रभाव

(६) हिन्दी-साहित्य का उदाहरण—

(क) वीरगाथा-काल का साहित्य और उस पर समाज का प्रभाव

(ख) भक्तिकाल के साहित्य पर समाज की छाप

(ग) रीतिकाल के साहित्य में समाज का रूप

(घ) आधुनिक काल के साहित्य में समाज की चित्तवृत्तियों का चित्रण

(७) उपसंहार—समाज के कल्याण के लिए साहित्य-रक्षा की आवश्यकता

वर्सफोल्ड नामक एक पाश्चात्य विद्वान साहित्य का लक्षण निर्धारित करता हुआ कहता है—

Literature is the brain of humanity. अर्थात साहित्य मानव-समाज का मस्तिष्क है। जिस प्रकार मनुष्य के मस्तिष्क में उसके पूर्व संचित विचारों एवं भावनाओं का समष्टि रूप विद्यमान

रहता है उसी प्रकार साहित्य में मनुष्य जाति के समस्त अनुभवों, उसके विचारों, का भंडार सुरक्षित है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि साहित्य हमारे पूर्वज विद्वानों के विचारो का लिखित एकत्रीकरण है। आज हमें गोस्वामी तुलसीदासजी के विचार, अनुभूतियाँ और आकांक्षाएँ विदित हैं। आज आदि कवि वाल्मीकिजी की पुनीत वाणी हमारे मन को प्रफुल्लित करती है। आज कालिदास और भवभूति के नाटक हमे उनके विचारों से परिचित कराते हैं। आज न्यूटन, प्लेटो, अरस्तू आदि महानुभावों की कृतियाँ हमारे ज्ञान की अभिवृद्धि कर रही हैं। यह सब किसका प्रसाद है? साहित्य का। निस्संदेह साहित्य ही प्राचीन आचार-विचारों का ज्ञान कराता हुआ हमारे मानसिक विकास मे हाथ बटा रहा है। वही हमें समस्त मानव-समाज के सूत्र मे पिरो रहा है। क्षण भर के लिए भी हमको उससे पृथक् नहीं होने देता।

यदि साहित्य हमारी सहायता न करे, हमें पूर्वजो के ससर्ग से व चित रक्खे तो हमे बहुत हानि होने की सभावना है। हम समाज के अर्जित एव सचित ज्ञान भडार से वचित रह जायँगे। हमारा मानसिक विकास रुक जायगा। जैसे शरीर की उन्नति जल, वायु, भोजन, प्रकाशादि पर निर्भर है उसी प्रकार मस्तिष्क की उन्नति साहित्य पर अवलम्बित है। यदि शरीर को भोजन न मिले तो वह जीवित नही रह सकता। उसी प्रकार मस्तिष्क को यदि साहित्य रूपी भोजन न मिले तो वह शक्तिहीन हो जाता है। मस्तिष्क के अविकसित रहने से समाज की उन्नति में बाधा पहुँचती है। सभ्यता का विकास नही हो सकता और ज्ञान का प्रसार रुक जाता है। अतः स्पष्ट है कि साहित्य के अभाव मे समाज के व्यष्टि और समष्टि दोनों रूपो को भारी हानि पहुँचती है।

साहित्य और समाज मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। साहित्य के द्वारा समाज को अनुपम शक्ति मिलती है और समाज द्वारा साहित्य का भंडार सदैव रत्नों और मणियों से जगमगाता रहता है और उसका

विस्तार नित्य प्रति बढ़ता जाता है। अच्छा या बुरा जैसा समाज होता है वैसा ही अच्छा या बुरा साहित्य निर्मित होता है, और जैसा अच्छा या बुरा साहित्य होता है वैसा ही अच्छा या बुरा समाज रूप धारण कर लेता है। अर्थात समाज साहित्य को और साहित्य समाज को प्रभावित करता रहता है। मैथ्यूआर्नल्ड ने कहा भी है—The Poet and age react upon each other अर्थात् कवि और समय एक दूसरे पर प्रभाव डालते है। निस्सदेह साहित्य समाज का दर्पण है। दूसरे शब्दो मे हम यो कह सकते हैं कि साहित्य द्वारा किसी समाज के अच्छे या बुरे, उन्नत या अवनत, विकसित या अविकसित, होने का प्रमाण मिलता है।

मनुष्य एक पेड़ के सदृश है। जिस प्रकार पौधे पर मिट्टी का, जल का, वायु का, प्रकाश का प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार मनुष्य जिस वातावरण, जिस परिस्थिति, जिस दशा, में होता है उसका प्रभाव उस पर पड़े बिना नही रह सकता। देश-काल के प्रभाव से कौन बच सकता है? प्रायः देखा जाता है कि एक स्थान के पेड़ जिस प्रकार के फल देते हैं दूसरे स्थान के उसी प्रकार के पेड़ वैसे फल नही देते। जैसा अमरूद इलाहाबाद का होता है वैसा अन्यत्र नहीं देखा जाता। काश्मीर का सा सेब अन्यत्र नहीं मिल सकता। चमन का अगूर देशी अगूर से कही अच्छा होता है। कहने का तात्पर्य यही है कि वातावरण के अनुसार जीवन का विकास होता है। समाज का वातावरण मनुष्य का वातावरण है। मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते सामाजिक वातावरण से अलग नही रह सकता। यह सच है कि वह अपने व्यक्तित्व से समाज को कुछ हद तक प्रभावित कर सकता है पर वह स्वयं समाज के वातावरण से बहुत अधिक प्रभावित होता रहता है। तुलसीदासजी सरीखे अनुपम प्रतिभा-सम्पन्न महात्मा भी समाज के प्रभाव से न बच सके। उनकी सभी कृतियो पर उनके तत्कालीन समाज की गहरी छाप है। उनके विचार-सामाजिक, राजनीतिक,

धार्मिक–ईसा की सोलहवीं शताब्दी की प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत हैं। यह एक कारण है कि गोस्वामीजी के स्त्री–विषयक विचार उतने उदार नहीं हैं। स्वाधीन देशों के व्यक्ति स्वभावतः स्वतन्त्रता-प्रिय होते हैं। जहाँ उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण होता है वे मरने मारने ... उद्यत हो जाते हैं। पराधीन देशों के मनुष्य दासत्व की बेड़ियों में जकड़े पड़ा रहना ही अपना अहोभाग्य समझते हैं। उनका मस्तिष्क इतना विकृत हो जाता है कि स्वतन्त्रता के औचित्य को ही वे नहीं समझ सकते। जिस मनुष्य को सदैव युद्धों के मध्य रहना पड़ता है वह वीर हो जाता है और जिसको कभी तलवार पकड़ने का अवसर ही नहीं मिलता वह कायर बन जाता है। जिस प्रकार बालक माता के स्तन्य से पुष्ट होकर बड़ा होता है उसी प्रकार व्यक्ति समाज की भावनाओं, विचारों, परम्परा तथा रूढ़ियों को बीज रूप में प्राप्त करके फूलता–फलता है।

जब मनुष्य कुछ साहित्य उत्पन्न करता है तब वे ही भावनाएँ, विचार और रूढ़ियाँ जिन्होंने उसके सारे जीवन को ओत-प्रोत कर रक्खा है उसकी लेखनी के मार्ग से निकल चलती हैं। इस प्रकार साहित्य पर समाज अपना प्रतिबिम्ब फेंकता रहता है और उसे अपने अनुरूप बनाता रहता है। यह स्वाभाविक नियम सभी देशों में, सभी कालों में, सभी जातियों में, निरंतर अप्रत्यक्ष रूप से कार्य करता रहता है। भारतवर्ष को लीजिए। हिन्दी–साहित्य पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो पता चलता है कि कालानुसार जैसे-जैसे समाज बदलता गया है वैसे-वैसे साहित्य भी परिवर्तित होता गया है। साहित्य सदैव समाज के रूप को प्रदर्शित करता आया है।

वीरगाथा–काल का साहित्य युद्धों के वर्णनों से भरा पड़ा है। उसमें राजाओं के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियों में मिलता है। इसका कारण यह है कि वह लड़ाई–भिड़ाई का समय था। भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे। उनको रोकने के लिए राजपूत अवरोधात्मक युद्ध करते थे। इसके अतिरिक्त राज्य-

विस्तार और परकन्या-अपहरण के लिए भी राजपूत लोग आपस मे लड़ लिया करते थे। देश मे उस समय चारो ओर तलवारों की खपाखप सुनाई पड़ती थी। अतः साहित्य मे वीर रस-प्रधान रचनाएँ हुई। इसके पश्चात जब मुसलमानो ने धीरे-धीरे राजपूतो को पराजित करके भारतवर्ष मे अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया तब हिन्दू-जाति की दशा बदली। मुसलमानों के अत्याचारो के कारण हिन्दू-जाति का जीवन कटकापूर्ण हो गया। उन्हे पद-पद पर मुसलमानो से अपमानित होना पडता था। उनका जीवन नीरस और हताश हो गया। उन्हे चारो ओर अधकार ही अधकार दिखाई देने लगा। कही भी आशा अथवा सहानुभूति का प्रकाश नहीं था। ऐसी दशा मे हिन्दू-जाति का ध्यान राम-कृष्ण की भक्ति की ओर गया। वे आशा करने लगे कि जिस प्रकार राम ने रावण का वध करके और कृष्ण ने कस का मद चूर्ण करके हिन्दुओ की रक्षा की थी उसी प्रकार मुसलमानो से भी उनका उद्धार राम-कृष्ण ही करेगे। फल यह हुआ कि समाज में भक्ति का प्रचार होने से साहित्य मे भी भक्ति की रचनाएँ होने लगी। इस प्रकार साहित्य मे वीर रस का स्थान भक्ति ने ले लिया। यहाँ तक कि भक्ति की भावनाओ की प्रचुरता के कारण उस समय को साहित्य के इतिहास में भक्ति-काल कहा गया है। इसके अनन्तर जब हिन्दू-जाति के दिन फिरे और मुसलमान उनके साथ अच्छा व्यवहार करने लगे तब वह विलासिता की ओर उन्मुख हुई। 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार राजा का प्रजा पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। मुगल बादशाहो ने विलासिता की हद कर दी थी। जहाँगीर और शाहजहाँ इसी प्रकार के शासक थे। उस समय हिन्दू राजा भी बडे विलासी और अकर्मण्य थे। परिणाम यह हुआ कि जनता विलास-सागर मे निमग्न हो गई और कवि कलुषित प्रेम की उन्मादकारिणी युक्तियों से हिन्दी-साहित्य को भरने लगे। शृङ्गार रस का गदी धाराओ में प्रवाह होने लगा। राधा और कृष्ण की ओट में कविगण नायक-नायिकाओं के वासनामय प्रेम की

उदभावना करने लगे। उस समय के साहित्य से तत्कालीन समाज की दशा का भली भाँति परिचय मिलता है।

अर्वाचीन हिन्दी-साहित्य को देखते हैं तो उसमे राष्ट्रीय भावनाओ का, समाज की रूढियो के खडन का, स्वाधीनता के सिद्धान्तो का, बाहुल्य पाते हैं। इससे प्रकट है कि आधुनिक हिन्दू समाज मे राष्ट्रीयता का सचार हो रहा है, सामाजिक कुरीतियो से घृणा उत्पन्न हो रही है और पराधीनता मे खिन्नता आ रही है।

अतः स्पष्ट है कि प्राचीन काल से सदैव साहित्य समाज के रूप को चित्रित करता आया है, समाज की मनोवृत्तियो की अभिव्यजना करता आया है और भविष्य मे भी ऐसा ही करता रहेगा। समाज के कल्याण के लिए यह आवश्यक है, आवश्यक ही नहीं 'अनिवार्य' है, कि हम अपने परम्परागत साहित्य की रक्षा करे और उसकी श्रीवृद्धि करते जायँ।

भारतीय समाज में स्त्रियों का स्थान

रूप-रेखा:—

(१) प्रस्तावना—समानता का युग; प्राचीन काल में भारतीय स्त्रियों की दशा

(२) आधुनिक भारतीय समाज में स्त्रियों का निम्न स्थान

(३) स्त्रियों के साथ पुरुषों के अत्याचार—

(क) बालिका-विवाह

(ख) विधवाओं के लिए पुनर्विवाह का निषेध

(ग) स्त्रियों को पर्दे में बन्द रखना

(घ) स्त्रियों में आभूषणों का चाव पैदा करना

(ङ) स्त्रियो को शिक्षित न करना

(च) स्त्रियों को धनाधिकार न देना

(छ) वैवाहिक नियमो का बुरा होना

(४) उपसंहार—सुधारों की योजना

आजकल समानता का युग है। प्रत्येक देश अपने समाज के भिन्न-भिन्न अङ्गो मे बराबरी का व्यवहार चाहता है। भारतवर्ष में भी यह प्रवृत्ति देखी जाती है। यहाँ पर लोग समाज मे अछूतों और स्त्रियो के स्थान को परखने लगे हैं। आजकल समाज के इन्ही अङ्गों की ओर भारतीय जनता का ध्यान है।

भारतवर्ष में प्राचीन काल में स्त्रियो का स्थान पुरुषों के समान

था। स्त्रियाँ पुरुषों की अर्द्धाङ्गिनी कही जाती थीं। उन्हें पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त थे। समाज में उनका आदर होता था। उन्हें उच्च से उच्च शिक्षा दी जाती थी। वे अपने पति की योग्य सहचरी होती थीं, उनकी सेवासुश्रूषा करना अपना धर्म समझती थीं और उनके कार्यों में सहायता दिया करती थीं।

पर आज स्त्रियों की दशा में महान परिवर्तन है। भारतीय समाज में आज उनका स्थान बहुत नीचा है। समाज ने उनको दासत्व की बेड़ियों में जकड़ दिया है। उनको विलास का उपकरण मात्र समझ लिया है। स्त्री पति की वस्तु समझी जाती है जिसका चाहे वह किसी प्रकार उपयोग करे। उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व या व्यक्तित्व कुछ भी नहीं समझा जाता। उसके सभी कार्य पति की प्रसन्नता के लिए, पति की सन्तुष्टि के लिए, होते हैं। वह तन-मन से पति की सेवा करती है। वह कभी अपने स्वामी को कष्ट नहीं होने देती चाहे उसको स्वयं कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े। इतने पर भी समाज में उसका कुछ आदर नहीं होता। उसके साथ दासी का सा व्यवहार होता है। वस्तुतः पातिव्रत धर्म की आड़ में भारतीय समाज ने स्त्री को परतन्त्रता के असह्य भार से दबा दिया है। यदि स्त्री को पतिव्रता होना हमारे पूर्वजों ने आवश्यक ठहराया है तो पुरुषों को पत्नीव्रत भी। यदि पत्नी का प्रधान धर्म पति की सेवा बतलाया गया है तो पति का भी धर्म पत्नी का आदर, उसकी रक्षा, उसके साथ समानता का व्यवहार, आदि कहा गया है। पर आजकल देखा जाता है कि पुरुष स्वयं तो अपने धर्म का पालन नहीं करते हैं और स्त्रियों से अपनी सेवा कराते हैं। वे स्त्रियों के अधिकारों का अपहरण करते जाते हैं और उनके साथ पाशविक अत्याचार करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते।

पहले बालिका-विवाह नामक अत्याचार को ही लीजिए। भारतीय समाज में बालिकाओं का विवाह बहुत प्रचलित है। १०, १२ वर्ष की आयु में बालिका को एक अपरिचित व्यक्ति के गले मढ़ दिया जाता

है । यह वह अवस्था होती है जब बालिका स्वयं यह नहीं जानती कि विवाह क्या वस्तु है और उसका उद्देश्य क्या होता है । छोटी अवस्थामे बेचारी को माता-पिता का स्नेह पूर्ण घर छोड़कर पति के घर में जाना पड़ता है जहाँ, प्रायः यह देखा जाता है कि, उसके साथ अच्छा व्यवहार नहीं होता । फिर जब तक उसके अङ्ग पूर्ण रूप से विकसित भी नहीं हो पाते वह अपने पति की काम-वासना की शिकार बनकर जननी बन जाती है । इससे उसके स्वास्थ्य पर बड़ा बुरा प्रभाव पडता है जो फिर आजन्म कभी भी नहीं सुधर पाता । यहाँ तक कि कभी कभी वह बच्चा जनने के समय ही मर जाती है । उसकी सतान भी प्रायः जीवित नहीं रहती और रहती भी है तो दुर्बल और अस्वस्थ होती है । बतलाइए वह बाल-पत्नी समाज के इस अत्याचार का क्या उत्तर दे ? कभी कभी तो यह भी देखा गया है कि बालिकाएँ वृद्ध पुरुषों के साथ व्याह दी जाती हैं । ऐसे सम्बन्धों का परिणाम प्रायः यह होता है कि बालिकाएँ विधवा हो जाती है और आजन्म कष्टमय जीवन व्यतीत करती हैं । समाज के कठोर नियम के कारण वे बेचारी पुनः अपना विवाह नहीं कर सकती ।

हिन्दू-समाज में विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार नहीं है । यह भी स्त्रियों के साथ सरासर अत्याचार तथा अन्याय है । यद्यपि कानून उनका साथ देता है तथापि समाज के तिरस्कार के भय से वे पुनर्विवाह नहीं करती । बड़े शोक की बात है कि जिस समाज ने पुरुष को एक पत्नी के जीवित रहते भी अनेक स्त्रियों को पत्नी बना लेने का अधिकार दे रक्खा है उस समाज ने स्त्री को पति की मृत्यु हो जाने पर भी फिर विवाह करने का अधिकार नहीं दिया है । पुरुष इच्छानुसार अनेक पत्नी रख सके और स्त्री पति की मृत्यु हो जाने पर भी दूसरा पति न बना सके—कैसा गर्हित तथा अन्यायपूर्ण नियम है । इस नियम से समाज और स्त्री-जाति दोनों को ही पर्याप्त हानि पहुँची है । पति की मृत्यु के पश्चात् स्त्री के लिए सारा संसार सूना हो जाता है

वह कष्ट-सहित भी अपने दिन कठिनाई से पूरे करती है। वह समाज में, परिवार में, अभागी, कलंकिनी एवं घृणित समझी जाती है। विवाहादि मंगल कार्यों में उसका सम्मिलित होना अशुभ गिना जाता है। समाज को यह हानि पहुँचती है कि यदि वह स्त्री संयम से न रहकर व्यभिचार की शरण ले तो समाज का नाम कलंकित होता है। सैकड़ों विधवाएँ समाज के भय से जनते ही अपनी संतान की हत्या कर डालती हैं। पर इन सब बातों को कौन देखता है? पुरानी लकीर के फकीरों के कानों में जूँ तक नहीं रेंगतीं। सुधारकों के उपदेशों का उन पर कोई असर नहीं होता। वे अपने पुराने मार्ग पर ही चले जा रहे हैं।

भारतीय स्त्रियों में पर्दे की कुप्रथा प्रचलित है। पर्दे में रहने के कारण स्त्रियों को ये हानियाँ होती हैं—

१—पर्दा स्त्रियों की शिक्षा में बाधा डालता है।
२—पर्दा स्त्रियों को भीरु स्वभाव की बनाता है।
३—पर्दा स्त्रियों के स्वास्थ्य पर कुठाराघात करता है।
४—पर्दा स्त्रियों को गृह की चार दीवारों में बन्द रखता है। जिससे वे सांसारिक अनुभव से बहुत कुछ वंचित रहती हैं।
५—पर्दे के कारण स्त्रियाँ पति के कार्यों में सहायता नहीं पहुँचा सकतीं।

इतनी हानियों के होते हुए भी न तो स्त्रियाँ ही और न पुरुष ही इस कुप्रथा के अन्त करने का प्रयत्न करते हैं। स्त्रियाँ तो इतनी अशिक्षित हैं कि उन्हें अपनी स्थिति का ज्ञान ही नहीं है। वे नहीं जानतीं कि पर्दे में रहने के कारण उनको कितनी हानियाँ होती हैं। वर्षों से इसी दशा में रहने के कारण वे पर्दे की अभ्यस्त हो गई हैं और अपना सुधार करने में संलग्न नहीं होतीं। वस्तुतः पर्दे आदि कुप्रथाओं का उत्तरदायित्व पुरुष-समाज पर ही है। उन्होंने स्त्री-समाज की अशिक्षा

का लाभ उठाते हुए उनको इस नीची दशा को पहुँचा दिया है। कहना न होगा कि जब तक स्त्रियाँ अपने अधिकारो को नही जानती, जब तक वे इसी प्रकार अशिक्षित बनी रहती हैं, जब तक उन्हे कष्टमय जीवन व्यतीत करना ही पड़ेगा।

हमारे यहाँ स्त्रियो मे आ॰॰॰॰ ॰॰॰ता भी बहुत देखी जाती है। प्रायः देखा जाता है कि स्त्रियाँ अपने पतियो से आभूषणों के लिए कलह किया करती हैं। बहुत से परिवारो मे आभूषणो का अभाव बडे-बडे अनर्थों को जन्म देता है। स्त्रियाँ समझती हैं कि उनकी शरीर की सजावट के लिए, उनके सौन्दर्य बढ़ाने के लिए, गहने अनिवार्य हैं। शरीर की सफाई, वस्त्रो की स्वच्छता आदि वस्तुएँ उनके सौन्दर्य को नही बढ़ा सकती। मैले कुचैले वस्त्र पहिनने मे उन्हे आपत्ति नहीं, शरीर को गदा रखना उन्हे नही अखरता, पर चाहिएँ आभूषण। कहने की आवश्यकता नही कि सौन्दर्य का सम्बन्ध स्वास्थ्य से है। इस बात को स्त्रियाँ नही जानती। यदि स्वास्थ्य अच्छा होगा, शरीर नीरोग होगा तो प्राणी का शरीर स्वतः सुन्दर होगा। पाउडर, आभूषण आदि पदार्थ किसी के सौन्दर्य को बढ़ा नही सकते। अतः स्त्रियो को आभूषणादि बाह्य सजावट की वस्तुओ को इतना महत्व नहीं देना चाहिए जितना कि स्वास्थ्य को। स्वस्थ शरीर बनाने के लिए उन्हे स्वच्छता, शुद्ध जलवायु, सादा भोजन, व्यायाम, सयम आदि का ध्यान सदैव रखना चाहिए। स्त्रियो की आभूषण–प्रियता के कारण देश का बहुत सा रुपया आभूषणो मे व्यर्थ व्यय किया जाता है। इससे देश की आर्थिक दशा पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इस रोग के कारण गरीब मनुष्य भरपेट अच्छा भोजन भी नही पा सकते। कैसा ही गरीब क्यो न हो वह अपनी स्त्री को सतुष्ट रखने के लिए अपने भोजन-व्यय मे कमी करके गहने बनवाता है। चाहे उसे दूध पीने को न मिले, चाहे उसे फल खाने को न मिले, पर पत्नी के लिए गहने होने चाहिएँ। आभूषणो के कारण कितनी ही स्त्रियो की हत्या होती है। डाकू और लुटेरे आभूषण सज्जित

स्त्रियो की ताक मे रहते हैं और अवसर पाकर उनको मार डालते हैं और उनके आभूषण लेकर चम्पत होते हैं।

भारतीय स्त्रियो मे पाई जाने वाली कुप्रवृत्तियों का कारण अशिक्षा है। कहना न होगा कि प्राचीन काल मे सभी स्त्रियाँ सुशिक्षित हुआ करती थीं। गार्गी, मैत्रेयी, भारती आदि का नाम कौन हिंदू न जानता होगा? वे कितनी शिक्षित थीं! पर आजकल न जाने क्यो वृद्ध पुरुष प्रायः यह कहते हुए पाए जाते हैं कि स्त्रियो को शिक्षित नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि शिक्षित होने पर वे प्रायः बिगड़ जाया करती हैं। धन्य है उन वृद्ध पुरुषो की बुद्धि को जो ऐसा कहते है। शिक्षा यदि अच्छी है तो उससे पुरुष या स्त्री कभी नहीं बिगड़ सकती। विद्या से ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं, मनुष्य मे कूप मण्डूकता नहीं रहती। अच्छी शिक्षा का हमें सर्वदा आदर करना चाहिए। आजकल स्त्रियाँ प्रायः अशिक्षित है। उन्हें न तो अपनी स्थिति का ज्ञान है और न अपने अधिकारो का। वे नहीं जानती कि समार मे उनका जन्म किस लिए हुआ है। वे तो समझ बैठी हैं कि अपने पति की काम-वासनाओ को शान्त करना ही उनके जीवन का लक्ष्य है। ओह! कितना नीचा आदर्श! ममाज अथवा देश से उन्हे कुछ भी सरोकार नहीं। वे नहीं जानतीं कि उनके जीवन का उद्देश्य गृहस्थाश्रम मे रहते हुए समाज और देश की सेवा करना है, पुरुषो के साथ कधे से कधा भिड़ाकर कार्य करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्त्री-शिक्षा नितान्त आवश्यक है। स्त्री-शिक्षा का प्रश्न स्त्रियों को थोडा पढ़ा देने से हल नहीं हो सकता। उन्हे उच्च शिक्षा मिलनी चाहिए। स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में इस बात को ध्यान मे रखना चाहिए कि स्त्री का प्रधान क्षेत्र गृह है। अतः मातृत्व-शिक्षा, घरेलू प्रबन्ध की शिक्षा, पाक-शिक्षा, सीने पिरोने की शिक्षा आदि मे स्त्री को शिक्षित बनाना चाहिए।

हिन्दू-समाज मे स्त्रियों को धनाधिकार प्राप्त नहीं है। पति के धन में पत्नी का कोई भाग नहीं होता। पति की मृत्यु हो जाने पर पत्नी को

रोटी-कपड़ा मिलना भी कठिन हो जाता है। यह कितना हृदय-विदारक दृश्य है कि लखपती पुरुष की विधवा स्त्री भूखी मरे! हिन्दू-समाज ने स्त्रियो के लिए। 'स्त्री-धन' की अवश्य व्यवस्था की है। यह प्रधानतः वह धन है जो लड़की को विवाह के समय पिता के यहाँ से मिलता है। पर यह बहुत थोडा होता है। मुस्लिम-समाज में इस दृष्टि से स्त्रियों की अच्छी दशा है। उन्हे पति की मृत्यु पर उसके धन का कुछ भाग मिलता है।

भारतीय समाज मे जो वैवाहिक नियम प्रचलित है वे भी स्त्रियो के अधिकारो की रक्षा नहीं करते। प्राचीन काल मे अवश्य कुमारियो को स्वय अपना पति चुनने का अधिकार था। वे स्वयवरा होती थी। पर आजकल उनके पिता उनके लिए पति चुनते हैं। लड़की को अपने लिए पति चुनने का अधिकार आज हमारे-समाज मे नही है। इसके जो दुष्परिणाम हो रहे है उनसे पाठक भली भॉति विदित होगे। पति और पत्नी की प्रकृति यदि पृथक् पृथक् हुई तो उन दोनो का जीवन आजन्म कटकाकीर्ण रहता है। यहाँ तक कि एक दूसरे को अपना शत्रु समझता है। सैकड़ो स्त्रियो ने अपने पतियो की मृत्यु कराई है या स्वय जीवन से उकता कर आत्म हत्या करली है। अगणित पुरुषो ने अपनी पत्नियो की हत्या की है। हिन्दू-समाज में एक बार वैवाहिक बन्धन में बँधे हुए स्त्री-पुरुष कभी अलग भी तो नहीं हो सकते। मुसलमानो मे अवश्य तलाक की प्रथा प्रचलित है। पर उससे पति ही लाभ उठा सकता है, पत्नी नहीं। इस आजन्म बन्धन के कारण पिता द्वारा पति-निर्धारण और भी अधिक दुःखदायी हो गया है। वास्तव मे पिता का अपनी कन्या को एक ऐसे अपरिचित व्यक्ति के गले मढ देना जिसके स्वभाव, जिसकी प्रकृति, आदि के विषय मे वह कुछ पता नहीं चलाता अन्याय है। अपने लिए वर चुनने का अधिकार लड़की को होना चाहिए। वह जिसको अपने योग्य समझे उसे वरे। दूसरे उसके कार्य मे हस्तक्षेप क्य , करें? पिता उसके इस कार्य मे केवल सहायक हो सकता है।

इसके अतिरिक्त स्त्री अथवा पुरुष को कुछ विशेष परिस्थितियों मे अपने पति अथवा पत्नी को त्याग देने का भी अधिकार होना चाहिए। यदि पति और पत्नी मे नहीं बनती है तो क्यो उनको आजन्म बद्ध रक्खा जाय ?

हर्ष का विषय है कि इधर कुछ दिनो से विशेष शक्ति-सम्पन्न महानुभावो के आर्विभाव के कारण भारतवर्ष मे जागृति हो रही है। क्या राजनीतिक, क्या सामाजिक, क्या धार्मिक सभी क्षेत्रो मे उथल-पुथल मच गई है। समाज अपनी कुरीतियो का निराकरण कर रहा है। अछूत और स्त्रियो के अधिकार जो उनसे छीन लिए गए थे पुनः उनको दिए जा रहे है। अब शिक्षित-समाज स्त्रियो को पुरुषो के साथ समानता का पद देने का प्रयत्न कर रहा है। स्त्रियो को सुशिक्षित बनाया जा रहा है, उनके लिए स्कूलो और कालेजो की स्थापना हो रही है। विधवा-विवाह का प्रचार हो रहा है। बालिका-विवाह को रोकने के लिए शारदा-ऐक्ट बन गया है। पर्दे की कुप्रथा अब टूटती जा रही है। स्त्रियो को धनाधिकार मिल रहे हैं। वे अपनी स्थिति को भी जानने लगी हैं। पर उनमे से कुछ शिक्षित होकर फैशन की गुलाम और अपव्यय की मशीन हो रही हैं। और गृहस्थी के कामो से मुख मोड़ रही हैं। ये बाते अच्छी नही। इससे समाज का अनर्थ होगा। स्त्रियो को समाज के कल्याण का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। इसी मे उनकी शिक्षा का साफल्य है। आशा है निकट भविष्य में भारतीय समाज मे स्त्री का स्थान पुरुष के समान हो जायगा और वह पुरुष की योग्य सहचरी हो जायगी।

काव्य और उपयोगितावाद

रूप-रेखा :—

(१) प्रस्तावना—काव्य के ध्येय के विषय मे मत-भेद—कलावाद और उपयोगितावाद

(२) कलावाद की परीक्षा

(३) काव्य और जीवन का सम्बन्ध

(४) संसार की सभी वस्तुओं का उपयोगी होना

(५) काव्य का उपयोग

(६) कलावाद का हाल की विलायती उपज होना

(७) काव्य को किसानों और मजदूरों के जीवन से सम्बन्धित करने का प्रश्न

(८) उपसहार—सारांश

काव्य के ध्येय के विषय मे विद्वानो मे मतभेद है। कोई काव्य को साधन मानते हैं और कोई साध्य। ये ही दो प्रधान धारणाएँ हैं जिनमे प्रतिदिन सघर्ष बढता जा रहा है। काव्य को किसी साध्य का साधन मानना उपयोगितावाद कहलाता है और साध्य मानना कलावाद। कलावादियो का सिद्धान्त है—Art is for art's sake अर्थात् कलाकला ही के लिए है। वे कला का उद्देश्य कला ही को मानते हैं। उनका विश्वास है कि काव्य कला की उपासना के लिए है जिससे अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। काव्य का जीवन से, जगत से, कोई सम्बन्ध नही। उसकी कोई उपयोगिता नही। इसके विरुद्ध उपयोगिता-

वादियो का कथन है कि काव्य जीवन की व्याख्या द्वारा मानव-समाज का उद्धार करता है। यही उसका लक्ष्य है, यही उसका ध्येय है। ऐसा काव्य जो जीवन की समस्याओ का उद्घाटन नही करता, जीवन की दशाओ का चित्रण नही करता, बल्कि पंख लगाकर 'जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि' उक्ति को चरितार्थ करता हुआ नक्षत्र, लहर और कलिकाओ से सम्बन्धित अनूठी उक्तियो से साहित्य को भरता रहता है प्रकृत काव्य नही कहा जा सकता।

अब प्रश्न उठता है कि कलावाद और उपयोगितावाद में से कौनसा ठीक है? क्या सचमुच काव्य का साध्य काव्य ही है? क्या जीवन से काव्य का कुछ भी सम्बन्ध नहीं? क्या काव्य वास्तव मे जीवन से अलग रह सकता है? कवि एक जीवधारी व्यक्ति है। उसका जो कुछ अनुभव होता है वह जीवन से ही होकर आता है। उसी अनुभव को वह काव्य-रूप मे समाज को भेंट कर देता है। अतः स्पष्ट है कि काव्य जीवन से पूर्णतया सम्बन्धित है। हडसन ने कहा भी है—"Poetry is made out of life, belongs to life, exists for life" अर्थात् काव्य जीवन से उत्पन्न होता है, जीवन के आश्रित रहता है और जीवन के लिए ही उसका अस्तित्व है। उसमे जीवन-सम्बन्धी बातों का विवेचन रहता है। वह जीवन की विस्तृत टिप्पणी है।

जीवन का विवेचन करता हुआ, उसका विश्लेषण करता हुआ कवि जीवन के भीतरी तत्वों के उद्घाटन से अपने को अलग नही रख सकता। मानव समाज के उद्धार के लिए किसी-न-किसी प्रकार के जीवन-सिद्धान्तों का उल्लेख वह करता ही है। जहाँ जीवन का विवेचन रहेगा वहाँ किसी-न-किसी प्रकार के नैतिक सिद्धान्त रहेगे ही। नीति और जीवन का सम्बन्ध-विच्छेद नही हो सकता। अतः नीति भी काव्य से अलग नहीं हो सकती। मैथ्यूआर्नल्ड नामक एक सुप्रसिद्ध समालोचक का कथन है—"Poetry is at bottom a criticism of life; that the greatness of a poet lies

in his powerful and beautiful application of ideas to life—to the question: How to live? × × × × A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life; a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards life" अर्थात् कविता वस्तुतः जीवन की आलोचना है। कवि का महत्व अपने विचारो को सु दर और सशक्त ढग से जीवन-जीवन के प्रश्न—पर लागू करने में है। वह कविता जो नीति का विरोध करती है वह जीवन का भी विरोध करती है। वह कविता जो नीति से उदासीन रहती है जीवन के प्रति भी उदासीन रहती है।

ससार मे कोई वस्तु निरुद्देश्य नही, कोई वस्तु उपयोगिता-रहित नहीं। तो यह कब सभव है कि काव्य उपयोगिता से परे रह सके? सच्चे काव्य में मानव-जीवन का आदर्शमय लोकोपयोगी भव्य रूप खडा किया जाता है, आत्मा को उत्तरोत्तर उच्चता की ओर अग्रसर करने के साधन जुटाए जाते हैं, अनुकरणीय चरित्रो की उद्भावना की जाती है। इस प्रकार का काव्य-रचयिता अपना उद्धार तो करता ही है पर साथ ही समाज का भी उद्धार कर देता है। जिस कार्य के सम्पादन मे सहस्रो उपदेशक कृतकार्य नही हो सकते उसको वही अकेला ही पूरा कर लेता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ऐसे ही काव्य-प्रणेता थे। उनके 'रामचरितमानस' मे जीवन का सर्वोत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। नीति और मर्यादा के साथ काव्य का दिव्य रूप मन को मुग्ध करने-वाला है। तुलसी के 'मानस' द्वारा हिन्दू जाति का कितना उपकार हुआ है, यह बतलाना शब्द की शक्ति से परे है। यदि गोस्वामीजी अपने काव्य में नीति और मर्यादा का स्वर्ण-संयोग न करते तो क्या यह उपकार संभव था? कदापि नही। नीति ही काव्य का प्राण है। पर कलावादी लोग काव्य और नीति के क्षेत्र पृथक् पृथक् मानते हैं। यह उनकी भूल है। यदि काव्य और नीति में सम्बन्ध नहीं है तो फिर

दिन तक जीवित न रह सकेगा। समाज तो ऐसी ही रचना को महत्व देता है और देता रहेगा जिससे उसको लाभ पहुँचे। अतः स्पष्ट है कि उपयोगितावादी काव्य ही उच्च कोटि का होता है। कलावादी काव्य से समाज को कुछ भी लाभ नहीं पहुँचता। वह अधिक दिन तक जीवित नहीं रह सकता। अतः उसे निकृष्ट कोटि मे स्थान मिलना चाहिए।

कलावाद हाल की विलायती उपज है। इधर कुछ दिनों से ही काव्य-क्षेत्र में इसका शखनाद होने लगा है। प्रायः नवयुवक कविगण ही इसके अंध भक्त हैं। वे ही निराली दुनिया की रचना कर रहे हैं। वर्तमान काव्य मे कलावाद का नग्न रूप देखने को मिल रहा है। विलायती काव्य मे तो इसका बोल बाला है। पर हिन्दी के कतिपय कवि भी इसका रूप अपने काव्य मे रखने लगे हैं। हमारे प० सुमित्रानन्दन पंत की 'छाया' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ देखिए—

कहो, कौन हो दमयन्ती-सी,
तुम तरु के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हे भी त्याग गया क्या,
अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई !

× × × ×

गूढ-कल्पना-सी कवियो की,
अज्ञाता के विस्मय—सी,
ऋषियों के गम्भीर-हृदय-सी,
बच्चों के तुतले-भय-सी।

इनमें सिवा कल्पना की करामात के क्या जीवन की किसी दशा का भी चित्रण है ? प्राचीन काल का काव्य तो सम्पूर्ण उपयोगितावादी ही है। हिन्दी-काव्य को छान डालिए। कहीं भी इसका अपवाद न मिलेगा। वीरगाथा-काल के कवि जनता के हृदय मे वीरोत्साह का उद्रेक करने के लिए रचना करते थे। उस समय काव्य का यही उपयोग था।

भक्तिकाल के काव्य का उपयोग सर्वसाधारण मे भक्ति के सिद्धान्तो का प्रचार था। रीतिकाल का काव्य कवियों के आश्रयदाता राजा-महाराजाओं की विलास-चेष्टाओ के उद्दीपन का साधन था। आधुनिक काल के अधिकाश काव्य का लक्ष्य सामाजिक कुरीतियो का खडन तथा देश की परतन्त्रता का निराकरण है। बाबू मैथिलीशरण गुप्त अपने काव्य में एक स्थान पर स्त्रियों के प्रति पुरुषो के अन्याय का दिग्दर्शन करते हुए कहते हैं—

नर कृत शास्त्रो के सब बन्धन
हैं नारी ही को लेकर,
अपने लिए सभी सुविधाएँ
पहले ही कर बैठे नर।

श्री वियोगीहरि अछूतोद्धार का पृष्ठ-पोषण करते हुए कहते हैं—

सुरसरि औ अत्यज दुहूँ, अच्युत-पद-संभूत।
भयौ एक क्यो छूत औ, दूजौ रह्यो अछूत॥

उपयोगितावादी आजकल एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठा रहे हैं। उनका कहना है कि किसानो और मजदूरो के लिए काव्य-रचना की जाय। कविगण किसानो और मजदूरो के जीवन को काव्य का विषय बनावे। उनके सुधार के लिए काव्य का उपयोग करे, उनकी आवश्यकताओं का काव्य मे दिग्दर्शन करावे और शिक्षित समुदाय का ध्यान गाँवों की ओर आकृष्ट करे। निस्सदेह यह वाछनीय है। किन्तु यह कहना कि काव्य को किसानो और मजदूरो के समझने के लिए नीचे ले आना चाहिए ठीक नही प्रतीत होता। हमें काव्य को नीचे न गिराकर किसानो और मजदूरो को ही शिक्षित करके काव्य की सतह तक पहुँचाना चाहिए।

अन्त में यही कहना है कि काव्य-कला को हमे मानव-समाज का उद्धार करनेवाला एक साधन समझना चाहिए, साध्य नहीं। काव्य और जीवन का अटूट सम्बन्ध है। पहला दूसरे के सुधार मे, दूसरे को

ऊँचा उठाने में, सदैव प्रयत्नशील रहेगा। बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने अपने 'साकेत' नामक महाकाव्य में कला पर विचार प्रकट करते हुए ठीक ही कहा है —

हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिए कब क्या, कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।
मानते हैं जो कला के अर्थ ही
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।

वैयक्तिक शासन और प्रजातन्त्र

रूप-रेखा :—

(१) प्रस्तावना – संसार में प्रजातन्त्र की उपासना

(२) प्राचीनकाल में प्रजा–तन्त्र शासन के अत्याचार

(३) प्रजातन्त्र की बुराइयाँ—

(क) मत–बाहुल्य का आधार लिया जाना और अधिकांश जनता का मूर्ख होना

(ख) चुनाव में गुरु–घंटालों की सफलता और गुट्टबंदी

(ग) चुनाव मे धनवानों की सफलता

(घ) बुद्धिमान मनुष्यों के हाथ मे शासन की बागडोर न होना

(४) वैयक्तिक शासन की परीक्षा

(५) प्रजातन्त्र और वैयक्तिक शासन का सापेक्षिक महत्व

(६) प्रजातन्त्र और वैयक्तिक शासन की मध्यवर्ती शासन–पद्धति का श्रेष्ठ होना—रामचरितमानस से पुष्टि

(७) उपसंहार—सारांश

आजकल राजनीति–क्षेत्र मे स्वतन्त्रता देवी की आराधना हो रही है। लगभग सभी जातियाॅ उस देवी की पुजारिने हैं। पाश्चात्य देशो में तो न जाने कितने पुरुषो एव स्त्रियों ने स्वतन्त्रता की वेदी पर अपने प्राणो का बलिदान चढ़ाया है। आज भारतवर्ष मे स्वतन्त्रता की लहर कोने-कोने में फैल रही है और अगणित मनुष्य इस स्वातन्त्र्य–पादप

को खीचने में सलग्न हैं। एकतन्त्र शासन-प्रणाली का कोई भी उपासक नही रह गया है। कोई किसी व्यक्ति-विशेष के नियत्रण मे रहना नही चाहता। सभी यही चाहते हैं कि शासन की बाग-डोर प्रजा के, जनता के, हाथ मे रहे। प्रजा-तन्त्र शासन की दुन्दुभी से आज विश्व प्रतिध्वनित हो रहा है। उसी को सुख का साधन समझा जारहा है। अतः कई एक निरकुश शासको के मुकुट प्रजा के पैरों ने ठुकरा दिए हैं।

पर क्या किसी ने शान्तिपूर्वक प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली के दोषों पर भी विचार किया है? शायद नही। प्राचीन काल के प्रजासत्तात्मक साम्राज्य यूनान और रोम के उदाहरण हमारे सामने हैं। क्या कोई कह सकता हैं कि इन साम्राज्यों में प्रजा सुख से रही और किसी मनुष्य के साथ अत्याचार नही किया गया? क्या यूनान में सुकरात को विष का प्याला नही पीना पड़ा? क्या रोम में देश-भक्तो को तलवार के घाट नही उतरना पड़ा? यदि हॉ, तो फिर इस शासन-प्रणाली को क्यो सुख का साधन समझा जाता है? प्रायः सब से बड़ा दोष जो प्रजा-तन्त्र राज्यों में पाया जाता है वह शासन-शक्तियो का एक व्यक्ति में केन्द्रस्थ हो जाना है। ऐसा व्यक्ति राज्य को अपनी निजी वस्तु समझ कर प्रजा के साथ क्रूरता का व्यवहार करता है। इतिहास इस प्रकार के उदाहरणों से भरा पड़ा है। रोम मे सीजर और आगस्टस तथा फ्रान्स मे नैपोलियन इसी प्रकार के उदाहरण हैं।

प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली की और भी अनेक बुराइयॉ हैं। इसमें जनता के मताधिकार पर विशेष ध्यान रक्खा जाता है। प्रत्येक कार्य मत-बाहुल्य के आधार पर किया जाता है। "Majority consists of fools" के अनुसार जनता में अधिकाश लोग मूर्ख होते हैं। अतः वे किसी कार्य की उपयोगिता या हानि-लाभ नही समझ सकते और चाहे जिस पक्ष मे अपना मत दे देते हैं। परिणाम यह होता है कि उनको तो अपनी मूर्खता का फल भोगना ही पड़ता है पर उनके साथ

बुद्धिमान भी दुःख के भागी होते हैं। मूर्खों में से कुछ भय और धन द्वारा वोटरों पर अधिकार करके सरकारी पदो पर पहुॅच जाते हैं। वे राज्य-सचालन के सर्वथा अयोग्य होते हैं और अनेक त्रुटियाॅ करते हैं। वास्तव में उनका उद्देश्य भी ठीक शासन-व्यवस्था द्वारा जनता को सुख प्रदान करना नही होता। वे तो अपना और अपने मित्रो का हित-साधन करने के लिए ही पदो पर पहुॅचते हैं।

प्रायः देखा जाता है कि प्रजा-तन्त्र शासन मे गुरुघंटालो को ही चुनाव मे अधिक सफलता मिलती है। वे ही वोटरो को झूठे वचन दे देकर उनसे वोट लेते हैं। योग्य और बुद्धिमान मनुष्य प्रायः सीधे-सादे होते हैं। वे कभी वचन-बद्ध नहीं होते क्योंकि उन्हे इस बात की आशका रहती है कि कही वे अपने वचन की पूर्ति न कर सके। इसके अतिरिक्त उनमें धूर्तों के से हथकडे और चाल भी नहीं पाई जाती। अतएव उन्हे चुनाव में कभी सफलता नही मिलती। वे तो सदैव अयोग्य और धूर्तों द्वारा ही शासित रहते हैं। उन्हें कभी अयोग्य और धूर्तों पर शासन करने का सुअवसर नहीं मिलता। धूर्तों के शासन से देश और समाज दोनो की अधोगति होती है। वे लोगो के साथ अत्याचार और अन्याय करते हैं।

गुरु घंटालों के अतिरिक्त धनवान मनुष्य भी शासन-समितियों में पहुॅच जाते हैं। धन द्वारा अशिक्षित ही नहीं शिक्षित लोग भी वश में कर लिए जाते हैं। यह वह शक्ति है जिसकी कृपा से मनुष्य चारों ओर अपना अधिकार स्थापित करने में कृतकार्य होता है। यह वह शक्ति है जिसके प्राप्त होने पर मनुष्य अगणित लोगों पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है। चुनाव-संग्राम में रुपयो के बिना काम नहीं चल सकता। कभी कभी तो वोटरों को उत्कोचादि के प्रलोभन दिए जाते हैं। बुद्धिमान पुरुषों पर प्रायः धन नहीं होता। अतः धनवानों की प्रति-योगिता में वे नहीं टिक सकते। ऐसे कितने वोटर होते हैं जो धन का तिरष्कार करके बुद्धि को महत्व देते हैं? ऐसे कितने वोटर होते हैं जो

धन को अपने वोट की कसौटी न बनाकर बुद्धि को अपने वोट की कसौटी बनाते हैं ? शायद कोई नही। परिणाम यह होता है कि अयोग्यता के कारण धनिक मनुष्य प्रजा मे शांति स्थापित नही कर सकते।

जैसा कि प्लैटो का कथन है प्रायः यह भी देखा जाता है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति राज-काज में भाग लेने से घृणा करते हैं। अन्य लोग सरकारी पदों को अपनी प्रसिद्धि और वैभवादि की प्राप्ति के लिए अपनाते है, किन्तु प्रतिभाशाली व्यक्ति इनमें से किसी वस्तु की इच्छा नहीं रखते। उन्हें न वैभव चाहिए, न आदर और न प्रसिद्धि। वे इन वस्तुओं को व्याधि समझते है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने प्रतिष्ठा से खिन्न होकर अपने काव्य मे एक स्थान पर कहा है—

मॉगि मधुकरी खाति ते, सोवत गोड़ पसारि।
पॉय प्रतिष्ठा बढ़ि परी, ताते बाढी रारि॥

वास्तव मे बुद्धिमान मनुष्य स्वतत्र जीवन के प्रेमी होते हैं। जिस कार्य मे उनकी स्वतत्रता का अपहरण होता है वह उन्हे नही रुचता। यदि उनमे से कुछ शासन-भार वहन भी करते हैं तो समाज के उपकार के उद्देश्य से, जिसे गोस्वामीजी ने इतना अधिक महत्व दिया है—

परहित सरिस धर्म नहि भाई। परपीड़ा सम नहि अधमाई॥

अतः स्पष्ट है कि प्रजा-सत्तात्मक शासन-प्रणाली दोषपूर्ण है। यद्यपि उसके सिद्धान्त श्रेष्ठ है, वह समानता और स्वाधीनता पर अवलम्बित है, तो भी अयोग्यता और गुट्टबंदी के कारण उससे जनता को सुख और शाति नही मिल पाती। यही कारण है कि ससार में प्रजा-तन्त्र साम्राज्य धीरे धीरे एक-तन्त्र शासन की ओर अग्रसर हो रहे है।

तो फिर कौनसी शासन प्रणाली उत्तम है ? कुछ लोग कहेगे वैयक्तिक। उनके अनुसार वैयक्तिक शासन में राष्ट्र का अभ्युत्थान होता है और प्रजा भी सुख से जीवन व्यतीत करती है। उदाहरण-स्वरूप जर्मनी ने हिटलर की आधीनता मे कितनी अधिक उन्नति की है ! इटली ने मुसोलिनी की अध्यक्षता मे कितनी शक्ति बढाई है !

टर्की ने कमाल पाशा के शासन में कैसा आशातीत उत्थान किया है ! रूस का स्टेलिन के आधिपत्य मे कितना अभ्युदय हुआ है ! ठीक है। इन सब देशों मे वैयक्तिक शासन को सफलता मिली है। पर क्या यह आशा की जा सकती है कि भविष्य मे भी ये देश इसी प्रकार उन्नति करते रहेगे ? क्या इन महान प्रतिभाशाली आत्माओ के न रहने पर भी इसी प्रकार की उन्नति सभव हो सकेगी ? शायद नहीं। वैयक्तिक शासन तभी अच्छा होता है जब शासन की बागडोर हाथ मे रखनेवाला व्यक्ति योग्य, न्यायी और श्रेष्ठ आचारवाला हो। यदि शासक अयोग्य एवं अत्याचारी हुआ तो वह प्रजा को पीस डालेगा। एकतत्र अथवा वैयक्तिक शासन-प्रणाली मे अच्छे शासक का मिलना सयोग की बात है। अतएव प्रजा का कल्याण भी अनिश्चित रहता है। कभी उसे सुख मिलता है और कभी दुःख। कभी वह उन्नति करती है और कभी अधोगति के अधकूप में गिर जाती है। कहने का तात्पर्य यही है कि वैयक्तिक शासन तो प्रतातंत्र से भी गया बीता है।

कारलायल नामक विद्वान् का कथन है—"Democracy means despair of finding heroes to govern you and being contented putting up with the want of them" अर्थात् प्रजातन्त्र से अभिप्राय उत्कृष्ट शासको के न पा सकने की निराशा में उनके अभाव मे सतुष्ट रहना है। इससे स्पष्ट है कि शासन के लिए योग्य और सदाचारी व्यक्तियों के अभाव मे प्रजा-तन्त्र की शरण ली जाती है। यह शरण अच्छी होती है, क्योंकि प्रजा-तन्त्र शासन में एक-तन्त्र शासन की अपेक्षा दुःख और अत्याचार की सम्भावना कम रहती है। कुछ लोगो का मत है कि यदि जनता की अशिक्षा और दरिद्रता को मिटा दिया जाय तो प्रजातन्त्र शासन सर्वोत्तम हो जाय और उसमे कोई दोष न रहे। दरिद्रता के कारण वोटर धन के प्रलोभन मे पड़कर योग्य मनुष्य को वोट नही देते बल्कि अयोग्य धनाढ्य व्यक्ति को दे देते है। अशिक्षा के कारण वोटर उपयुक्त

मनुष्य को अपना प्रतिनिधि नही चुन सकते। वे भय और दबाव के द्वारा गुरुघंटालो के पजो मे फॅस जाते हैं। इसमे सन्देह नहीं कि दरिद्रता और अशिक्षा के निराकरण से प्रजा-तन्त्र के दोष कम रह जायँगे, पर यह कहना कि उसमे कोई दोष ही नही रहेगा अथवा वह सर्वश्रेष्ठ हो जायगा ठीक नही प्रतीत होता। जब तक गुट्टबन्दी और धूर्तता का काला मुँह न होगा तक तक वह पूर्णतः दोष-मुक्त नही हो सकता। आजकल शिक्षितों मे भी ये अवगुण देखे जाते हैं, यह खेद की बात है।

हमारी समझ मे तो वैयक्तिक और प्रजातत्र दोनों शासन-प्रणालियों से कहीं श्रेष्ठ वह शासन-प्रणाली है जो इन दोनों का मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण करती है और उसके अनुसार शासन का उत्तरदायित्व राजा और प्रजा दोनों पर रहता है। राजा पर प्रजा का अकुश रहता है। वह प्रजा को अनुमति के बिना कोई कार्य नही करता है। राजा के अत्याचारी अथवा अन्यायी होने पर प्रजा को उसे पदच्युत करने का पूर्ण अधिकार होता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने 'रामचरितमानस' मे इसी प्रकार की शासन-प्रणाली का प्रतिपादन किया है। उन्होने राजनीति-क्षेत्र में प्रजा-तन्त्र और एक-तन्त्र शासनरूपी गंगा-यमुना का सगम कराके उसे प्रयाग के समान पवित्र बनाया है। उनके दशरथ और राम निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासक नहीं थे। वे प्रत्येक कार्य अपनी प्रजा की सम्मति से करते थे। रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक के सम्बन्ध में राजा दशरथ किस प्रकार प्रजा की सम्मति ले रहे हैं। देखिए—

जो पॉचहि मत लागहि नीका।
करहुॅ हरषि हिय रामहिं टीका॥

रामचन्द्रजी भी अपने ऊपर प्रजा का कितना नियन्त्रण रखना चाहते थे देखिए—

जो अनीति कछु भाषौ भाई।
तौ मोहिं बरजहु भय बिसराई॥

राजा और प्रजा का सम्बन्ध इसी प्रकार का होना चाहिए जैसा मुख और शरीर का। गोस्वामीजी कहते हैं :—

मुखिया मुख सो चाहिए, खान पान कहँ एक।
पालै पोषै सकल अँग तुलसी सहित विवेक॥

जैसे मुख सारे शरीर की रक्षा करता है वैसे ही राजा को प्रजा की रक्षा करनी चाहिए।

अन्त में यही कहना है कि वैयक्तिक शासन और प्रजातन्त्र पृथक्-पृथक् दोनों ही दोष-युक्त हैं। ऐसी शासन-प्रणाली जो इन दोनों की मध्यवर्ती हो मानव-समाज का कल्याण कर सकती है। अतः संसार को इसी शासन-प्रणाली को अपनाना चाहिए। इँगलैण्ड में तो यह है ही, अन्य देशो मे भी इसकी आवश्यकता है। वैसे तो जैसा कि अलैग्जेंडर पोप ने कहा है—

For forms of government let fools contest,
Whatever is best administered is best.

शासन-प्रणालियो पर झगडना मूर्खता है। जिस शासन द्वारा प्रजा सब से अधिक सुखी हो वही सर्वोत्तम है।

हिन्दी-साहित्य और वैष्णव कवि

रूप-रेखा :—

(१) प्रस्तावना—वैष्णव कवियों के आविर्भाव के समय देश की दशा

(२) राम-कृष्ण की भक्ति का प्रचार और उसका साहित्य पर प्रभाव

(३) राम-भक्ति-शाखा—

(क) तुलसीदासजी की हिन्दी-सेवा

(ख) नाभादासजी ,, ,,

(ग) केशवदासजी ,, ,,

(४) कृष्ण-भक्ति-शाखा—

(क) सूरदासजी और हिन्दी-साहित्य

(ख) नन्ददासजी ,, ,,

(ग) मीराबाई ,, ,,

(घ) रसखान ,, ,,

(५) कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा साहित्य का कुछ अहित

(६) आधुनिक काल के वैष्णव कवियो की साहित्य-सेवा

(क) गुप्तजी (ख) उपाध्यायजी

(७) उपसंहार—सारांश

हम्मीर के समय से ही चारणों का वीर-गाथा-काल समाप्त हुआ और देश मे मुसलमानों का राज्य स्थापित होगया। मुसलमानों की धार्मिक असहिष्णुता के कारण हिन्दुओं का जीवन दुःखमय और

निराश होगया। उन्हे जीवन मे चारो ओर अधकार दिखाई देने लगा। उनमे अशाति छागई। उस समय हिन्दू-जाति असंघटित एवं शक्तिहीन थी। शासको के अत्याचारो से हिन्दुओ को अपना जीवन भार-स्वरूप प्रतीत होता था। क्या राजनीतिक, क्या सामाजिक, क्या धार्मिक, सभी क्षेत्रो मे उनका तिरस्कार था। लज्जा तथा खिन्नता के कारण वे सिर ऊँचा नहीं कर सकते थे। "दुःख मे सुमिरन सब करैं, सुख में करै न कोइ" के अनुसार अब उनका ध्यान भगवान के लोक-रक्षक और असुरनिकदक रूप की ओर जाने लगा।

फलतः एक महान धार्मिक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। पहले राम और रहीम की एकता दिखानेवाले निर्गुणोपासक कवियो ने मुरझाए हुए हिन्दू-जीवन-पादप को हरा करने का प्रयत्न किया। परन्तु उन्हे सफलता नहीं मिली। उसके पश्चात वैष्णव कवियो ने अपनी सरस वाणी का जनता मे सचार किया जिसका प्रभाव देश के कोने-कोने मे पड़ा। भगवान के लोकपालक रूप की विष्णु के रूप में प्रतिष्ठा करके उनकी भक्ति का मार्ग समस्त देश मे प्रचलित कर दिया गया। काल के प्रतिनिधि कवियो ने अपनी दिव्य वाणी द्वारा जनता को विष्णु के लोक-रक्षक एव लोक-रंजक स्वरूप की झाँकी कराई। उनकी दिव्य वाणी ने यह सदेश एक एक हिन्दू तक पहुँचाया कि भगवान दूर नहीं हैं, तुम्हारे जीवन मे मिले हुए है। वे दीन और दुखियो की पुकार सुनकर पैदल ही उनकी सहायता करने दौड़ पड़ते हैं। वे दुष्टो का दमन करने के लिए ही अवतार लेते है। वे पीड़ितो के साथ आँसू गिराते हैं, घायलो के घावो पर पट्टी बाँधते है।

इन वैष्णव कवियों ने विष्णु भगवान के दो ही अवतारो—राम और कृष्ण—को अपनी भक्ति का आलम्बन चुना। राम को आलम्बन चुननेवाले भक्त-कवि रामानन्दजी की परम्परा चली और कृष्ण को अपना उपास्य देव माननेवाले बल्लभाचार्यजी की परम्परा चली। इन्ही परम्परा में भक्त-शिरोमणि सूर और तुलसी हुए जिन्होने अपनी अलौ-

किक प्रतिभा से हिन्दी–साहित्य के कलेवर को जगमगा दिया और अपनी वाणी के सुधारस से सींचकर मुरझाते हुए हिन्दू–जीवन को पुनः हरा–भरा किया। वैष्णव धर्म की यह परम्परा अक्षुण्ण रूप से आज तक चली आ रही है।

इस वैष्णव धर्म का हिन्दी–साहित्य पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। यहाँ तक कि साहित्य के चार कालो मे से एक काल भक्तिकाल ही कहलाता है। वैष्णव कवियो ने हिन्दी–साहित्य को जैसा गौरवान्वित किया है वैसा और किसी कवि ने नहीं। वस्तुत: इन कवियो का रचना–काल हिन्दी–साहित्य का स्वर्ण–युग है। भाव की दृष्टि से, अर्थ गाम्भीर्य की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से, बाह्य दृश्य–चित्रण की दृष्टि से, हमने इन कवियों को काव्य–क्षेत्र मे सर्वोच्च श्रेणी मे देखा है। इनमें से प्रधान कवियो ने तो हिन्दी को सजीवनी शक्ति ही प्रदान की है।

वैष्णव धर्म की राम–भक्ति–शाखा मे गोस्वामी तुलसीदास, नाभादास, केशवदास प्रभृति कवि हुए। गोस्वामीजी द्वारा हिन्दी–साहित्य का जो उपकार हुआ है वह वर्णनातीत है। काव्य की शक्तियों और विभूतियो का पूर्ण प्रसार उनकी रचना मे हुआ है। उन्होने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से काव्य के प्रत्येक क्षेत्र को आलोकित किया है। क्या प्रबन्ध. क्या मुक्तक, दोनो प्रकार की रचनाएँ उन्होंने कीं हैं और काव्य की प्रचलित सभी रचना–शैलियों मे राम–चरित्र की सुधा धारा को प्रवाहित किया है। उन्होने काव्य मे प्रयुक्त व्रजभाषा और अवधी दोनों पर अपूर्व अधिकार दिखाया है। गोस्वामीजी का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। मानव–जीवन की प्रत्येक दशा तक उनकी पुनीत वाणी पहुँचती है। मानव–अंतःकरण की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वृत्ति का उद्घाटन उन्होंने किया है। उनके हृदय ने बाह्य जगत के नाना रूपों के साथ सामंजस्य स्थापित किया है और उनके प्रत्यक्षीकरण में अनुपम कौशल का परिचय दिया है। काव्य के बाहरी रूप के लिए भी उन्होंने सुन्दर प्रणाली का अनुसरण किया है। अपनी प्रबन्ध–पटुता के बल से 'रामचरित-मानस' सरीखा

काव्य रचकर उन्होंने हिन्दी-साहित्य को ही गौरवान्वित नही किया, वरन् हिन्दू-जाति को निराशा के गर्त से बाहर निकाल लिया। भगवान् का मगलमय रूप दिखाकर मृतप्राय हिन्दू-जाति मे अपूर्व आशा और शक्ति का सचार किया। इन महात्मा की दिव्य वाणी ने हिन्दी-साहित्य को सर्वोच्च आसन पर आसीन कर दिया। वस्तुतः तुलसी-सा कवि पाकर हिन्दी-काव्य कृतकृत्य हो गया।

नाभादासजी ने भी हिन्दी-साहित्य की उन्नति की। उन्होने व्रज-भाषा मे रचना की। 'भक्तमाल' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ उन्ही का लिखा हुआ है जिसमे तुलसीदासजी के सम्बन्ध मे यह प्रसिद्ध छप्पय है—

त्रेता काव्य निबन्ध करी सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उचरै ब्रह्म हत्यादि परायन॥
अब भक्तन सुख दैन बहुरि लीला विस्तारी।
रामरचनरस मत्त रहत अहनिमि व्रत धारी॥
ससार अपार के पार को सुगम रूप नौका लियो।
कलि कुटिल जीव निस्तार-हित बालमीकि तुलसी भयो॥

'भक्तमाल' के अतिरिक्त उन्होंने 'अष्टयाम' आदि पुस्तके भी लिखी हैं। गद्य और पद्य दोनों को ही उन्होंने रचना के लिए चुना है और काव्य-रचना में अच्छा कौशल दिखाया है।

केशवदासजी ने जहाँ 'रामचन्द्रिका' लिखकर राम-भक्त होने का परिचय दिया वहाँ 'कवि-प्रिया' लिखकर रीति-ग्रंथकार कवि होने का भी। अतः विद्वानो में उनको वैष्णव कवि मानने में मतभेद है। पर राम-चरित्र का अपनी 'रामचन्द्रिका' में आश्रय लेने के कारण हम केशव को वैष्णव कवियो में अवश्य स्थान देंगे। उन्होने 'रामचन्द्रिका' में विविध छन्दों तथा अलंकारों का प्रयोग किया है। उसकी भाषा सजीव है। उसमें वाग्वैदग्ध्य का स्थान-स्थान पर सुन्दर परिचय मिलता है। पर उसमें मार्मिक स्थलों पर हृदय-पक्ष की प्रायः कमी है। राम-वनगमन, सीता-हरण आदि स्थलों पर हृदय-हीनता के कारण

केशवदासजी ने अधिक ध्यान नहीं दिया है। वहाँ वे दो चार बातें कह कर चलते बने हैं। अलकारों की छटा देखिए—

अति चचल जहँ चल दलै, बिधवा बनी न नारि।
मन मोह्यो ऋषिराज को, अद्भुत नगर निहारि॥

वैष्णव धर्म की कृष्ण-भक्ति-शाखा मे सब से प्रधान कवि सूरदासजी हुए। उन्होने अपने सरस पदो से हिन्दी-साहित्य का भण्डार भर दिया है। जो तन्मयता इनकी वाणी मे पाई जाती है वैसी न तो अन्यत्र देखी गई है और न सुनी गई है। उनके विषय मे यह दोहा प्रसिद्ध है—

किधौ सूर को सर लग्यो किधौ सूर की पीर।
किधौ सूर को सर लग्यो बेध्यो सकल सरीर॥

यद्यपि काव्य के संकुचित क्षेत्र मे ही उन्होने अपनी वाणी का प्रसार किया पर उसके कोने-कोने को छान डाला। शृङ्गार और वात्सल्य रस के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्‌घाटन इन महात्मा के बन्द नेत्रों ने किया उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। न जाने हृदय की कितनी सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियो तक उनकी पहुँच थी। भाव-व्यजना का एक अनूठा उदाहरण देखिए—

नन्द! व्रज लीजै ठोकि बजाय।
देहु बिदा मिलि जाहि मधुपुरी जहँ गोकुल के राय॥

भावों की मार्मिक अभिव्यजना के साथ-साथ बचन-विदग्धता सूरदासजी का विशेष गुण है। किसी बात को सीधे-सादे न कह कर वे उसे इस अनूठे ढग से कहते हैं कि श्रोता या पाठक उसके आकर्षण एवं प्रभाव से बच नहीं सकता। देखिए इस पद में गोपियाँ निर्गुणोपासना का खंडन किस अनूठे ढंग से करती हैं—

मोहन माँग्यो अपनो रूप।
या व्रज बसत अँचै तुम बैठी ता बिनु तहाँ निरूप॥

निस्संदेह इस प्रकार की उक्तियाँ हिन्दी-साहित्य की दिव्य विभूतियाँ हैं।'

नन्ददासजी की रचनाएँ भी बड़ी रसीली और माधुर्यपूर्ण हैं। उनके विषय मे यह प्रसिद्ध है "और कवि गढिया, नन्ददास जड़िया"। निस्सदेह नन्ददासजी की भाषा सुव्यवस्थित, प्रौढ तथा सजीव है। उनकी दो पुस्तके 'रासपचाध्यायी' और भ्रमरगीत' बहुत प्रसिद्ध हैं। 'भ्रमरगीत' का एक पद देखिए—

> जो उनके गुन होय, वेद क्यो नेति बखानै।
> निरगुन सगुन आतमा रुचि ऊपर सुख सानै॥
> वेद पुराननि खोज कै पायो कतहुँ न एक।
> गुन ही के गुन होहि तुम, कहौ अकासहि टेक॥
> सुनौ ब्रजनागरी।

मीराबाई का काव्य भी कृष्ण-प्रेम को लेकर चला। उनका एक एक पद प्रेम की मार्मिक अभिव्यजना की जीती-जागती मूर्ति है, वह मीरा के प्रेम-सिक्त हृदय की प्रतिकृति है। उनमे वियोग छलक रहा है। देखिए—

> हेरी मैं तो प्रेम-दिवानी, मेरा दरद न जाने कोय।
> सूली ऊपर सेज हमारी, किस विधि सोना होय॥
> गगन मँडल पै सेज पिया की, किस विधि मिलना होय।
> घायल की गति घायल जानै, की जिन लाई होय॥
> जल बिन जैसे मछली तलफै, सो गति मेरी होय।
> दरद की मारी बन-बन डोलूँ बैद मिल्या नही कोय॥
> मीरा की प्रभु पीर मिटैगी, जब बैद सँवलिया होय॥

रसखान ने मुसलमान होते हुए भी कृष्ण-भक्ति को अपनाया। उनकी कविता मे कृष्ण-प्रेम के ऐसे सुन्दर उद्गार निकले कि वे आज तक सर्व-साधारण को रसमग्न किए हुए हैं। उनके कवित्त और सवैये हिन्दी-भाषा-भाषी लोगो को जिह्वा पर सदैव नाचते रहते हैं। उनकी ब्रजभाषा बड़ी परिष्कृत और सरस देखी जाती है। उनकी रचना का यह नमूना देखिए—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौ।
आठहुँ सिद्धि नवो निधि को सुख नंद की गाइ चराय बिसारौ ॥
रसखानि कबौ इन आँखिन सो ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौ।
कोटि करौ कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौ ॥

यो तो प्राचीन काल मे अनेक वैष्णव कवि हुए जिन्होंने हिन्दी-साहित्य को भरा-पूरा बनाया पर उनमे उक्त कवि ही प्रथम श्रेणी के अधिकारी हुए हैं। अतः उन्ही की हिन्दी-सेवाओ का दिग्दर्शन कराया गया है।

कहना न होगा कि सूरदास प्रभृति कृष्ण-भक्त कवियों से जहाँ हिन्दी-साहित्य का हित-साधन हुआ वहाँ कुछ अहित भी हुआ। जिस राधाकृष्ण के प्रेम को इन भक्तो ने गूढ से गूढ भक्ति का विषय बनाया उसीको लेकर रीति-काल के कवियो ने अपने आश्रयदाताओ की विलास-चेष्टाओ की तृप्ति के लिए कलुषित रचनाएँ की। इसमें संदेह नही कि यह अहित उस विशाल हित के सामने कुछ भी नही है जो इनके द्वारा हिन्दी-साहित्य का हुआ। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि यह उनके यश-मयक मे काले धब्बे के समान है।

यह तो हुई प्राचीन वैष्णव कवियो की बात। अब वर्तमान काल के वैष्णव कवियो की ओर आइए। इनमें प्रधान बाबू मैथिलीशरण गुप्त और पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय है। यद्यपि गुप्तजी ने अभी हाल में 'द्वापर' शीर्षक रचना करके अपनी कृष्ण-भक्ति का भी परिचय दिया है पर ये प्रधानतः राम-भक्त कवि हैं। जैसे तुलसीदासजी 'कृष्ण-गीतावली' की रचना करने पर भी राम-भक्त रहे, वैसे ही गुप्तजी भी राम-भक्त कवि हैं। इन्होने 'पचवटी' और 'साकेत' ग्रथ रचकर राम-भक्ति-धारा को प्रथुल किया है। 'पचवटी' में राम का बनवास और शूर्पणखा के प्रसंग हैं। 'साकेत' में सक्षेप में पूर्ण राम-चरित्र वर्णित है और उर्मिला की प्राण-प्रतिष्ठा की गई है। अब से पूर्व व्रजभाषा और अवधी में ही रामचन्द्रजी की गाथा लिखी गई थी। अब गुप्तजी ने खड़ी बोली में उस गाथा को लिखा है। इनको अपनी रचना

में पूर्ण सफलता मिली है। राम-चरित्र को आधुनिकता के साँचे में ढालने का श्रेय गुप्तजी को है।

उपाध्यायजी ने कृष्ण के लोक-रक्षक अंग की पूर्ति की है, जिसका अभाव प्राचीन कृष्ण-भक्त कवियों में पाया जाता था। इन्होंने बड़ी भावुकता के साथ अपने 'प्रियप्रवास' में कृष्ण को व्रज-नेता अंकित किया है। उनकी राधा भी लोक-हित-संलग्ना हैं। वे अपने प्रेम को लोक-हित पर न्यौछावर कर देती हैं। देखिए वे क्या कहती हैं—

प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें।

इस प्रकार उपाध्यायजी ने कृष्ण-भक्त-साहित्य को संशोधित और परिवर्तित किया है। इन्होंने व्रज भाषा के स्थान पर खड़ी बोली को अपनी काव्य-भाषा बनाया है।

सारांश यह है कि हिन्दी-साहित्य का जितना कल्याण इन वैष्णव कवियों से हुआ है उतना किसी अन्य शाखा के कवियों द्वारा नहीं। व्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली तीनों को इन्होंने प्रौढ़ता तक पहुँचाया है। प्रत्येक भाव, प्रत्येक रस, तक इन्होंने अपनी पहुँच दिखलाई है। विभिन्न रचना-शैलियों में रचनाएँ की हैं। निस्संदेह हिन्दी-साहित्य को उच्चता की चरमकोटि पर पहुँचानेवाले ये वैष्णव कवि ही हुए हैं।

जगत में वर्तमान अशान्ति के कारण

रूप-रेखा:—

(१) प्रस्तावना—संसार में चारों ओर अशान्ति

(२) अशान्ति के कारण—

(क) पराधीनता

(ख) मशीनों का बाहुल्य

(ग) पूँजीवाद

(घ) भौतिकवाद

(ङ) साम्प्रदायिकता

(च) युद्ध

(छ) प्रजातंत्र की असफलता

(३) उपसंहार—सारांश

आजकल ससार में चारों ओर अशाति छाई हुई है। प्रत्येक देश किसी-न-किसी कारण से अशात दिखाई देता है। संसार में कोई परतंत्रता की बेड़ियो से जकड़ा हुआ देश स्वतन्त्र होने का आन्दोलन कर रहा है। वहाँ पराधीनता अशांति का कारण है। वहाँ के निवासियों को न तो बोलने की स्वतन्त्रता है, न विचार प्रकट करने की और न इच्छित कार्य करने की। उनका कोई आदर नही होता। उनके साथ तरह-तरह के अत्याचार किए जाते हैं। उनकी भाषा का निरादर होता है। उनकी संस्कृति और सभ्यता को भुलाने के प्रयत्न किए जाते हैं। देश के भाग्य-विधाता वहाँ के निवासियों की पसीने की कमाई पर

हाथ साफ करते हैं। देश की समृद्धि एवं उत्थान नहीं हो पाता। भारतवर्ष इसी प्रकार का देश है। यहाँ के रहनेवाले सब प्रकार से दुःखी तथा व्याकुल हैं। पराधीनता ने उनको इतना दरिद्र कर दिया है कि उनमे से बहुत सों को भरपेट भोजन भी नही मिल पाता।

ससार की अशाति का दूसरा कारण मशीनो का बाहुल्य है। लोगो ने घरेलू उद्योग-धन्धो को त्याग कर मशीनो की शरण ली है। जिस देश को देखिए वही मशीनों का उपयोग कर रहा है। इससे मनुष्यो मे बेकारी बहुत बढ़ गई है। मशीन में मनुष्य की अपेक्षा कार्य करने की शक्ति कई गुनी होती है। अतः किसी कार्य को करने के लिए मशीन का प्रयोग करना अनेक मनुष्यो की रोटियाँ छीनना है। निस्संदेह मशीनों के प्रयोग से धनवानो को लाभ होता है, रुपए वालो का घर भरता है, पर बेचारे मजदूरो और शिल्पकारियो पर क्या बीतती है! उन्हे कैसे-कैसे दुःख सहने पड़ते हैं! उन्हे खाने को भरपेट भोजन और शरीर ढकने को पर्याप्त वस्त्र भी नहीं मिलते। उनके पास मनो-रजन और आमोद-प्रमोद के लिए न तो समय है और न पैसे। उन्हे जीवन में सदैव आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। जीवन उन्हे भार-स्वरूप प्रतीत होता है। बहुत से जीवन से लाचार होकर उसका अत कर देते हैं। अभी थोड़े दिन हुए एक समाचार-पत्र मे यह समाचार पढ़ने को मिला था कि एक पुरुष ने बेकारी के कारण अपनी स्त्री और एकमात्र पुत्री का बध करके अपनी भी हत्या कर ली। प्रतिवर्ष अगणित मनुष्य इस बेकारी-देवी पर अपने शरीर का बलिदान चढ़ाते हैं। क्यो उसको संतुष्ट करने के लिए। पर क्या वह संतुष्ट होती है? कभी नही। मशीनो के बाहुल्य से माल की पैदावार बहुत बढ जाती है। देश की खपत से बहुत सा माल बच रहता है। उसको खपाने के लिए अन्य देशों में बाजार ढूँढ़ना पड़ता है। आजकल प्रत्येक देश में मशीनों का प्रचार होने के कारण बाजार मिलना सरल नही है। अतः खपत की समस्या दिन-प्रतिदिन भीषण होती जा रही है।

पूँजीपति भी ससार की अशाति के कारण हैं। ये निरंतर ऐसे कामों में अपनी पूँजी लगाते हैं जिनके द्वारा गरीबो का धन खिचकर उनके पास आजाय। वे कभी ऐसा कार्य नही करते जिससे दीन मनुष्यों का कल्याण हो। रस्किन नामक एक अँग्रेज विद्वान ने ठीक कहा है—

"The greater part of the profitable investment of capital, in the present day, is in operations of the kind, in which the public is persuaded to buy something of no use to it, on the production or sale of which the capitalist may charge per-centage: the said public remaining all the time under the persuasion that the percentages thus obtained are real national gains, whereas, they are merely filchings out of light pockets, to swell heavy ones." अर्थात् आजकल पूँजी का लाभदायक प्रयोग अधिकाश इस प्रकार के कार्यों मे होता है जिनके द्वारा जनता को ऐसी व्यर्थ की वस्तु खरीदने को प्रोत्साहित किया जाता है, जिसकी पैदावार और बिक्री पर पूँजीपति व्याज ले सके। जनता सदैव इस भ्रम मे रहती है कि इस प्रकार प्राप्त की हुई व्याज राष्ट्र का लाभ है पर वस्तुतः में वह चोरी मात्र है जिससे निर्धनों की जेबे खाली होती हैं और धनवानो की भरती हैं। पूँजीपतियो को दिन रात अपनी पूँजी मे अभिवृद्धि करने की चिता रहती है। उनके जीवन का लक्ष्य रुपया है। उसकी प्राप्ति के लिए वे न जाने कितने पाप करते हैं। पूँजीपतियों के अत्याचारों के कारण आजकल संसार में साम्यवाद की ध्वनि सुनाई पड़ रही है। साम्यवादियों का कहना है कि पूँजीपतियो ने जनता से धन लूटा है। उनकी पूँजी जनता की पूँजी है। उसके उपभोग का सर्वसाधारण को अधिकार होना चाहिए, केवल उन्हीं को नही। रूस में साम्यवाद का

प्रयोग हो रहा है। वहाँ के निवासियों को अपनी अपनी शक्ति के अनुसार काम करना पड़ता है और सरकार उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति करती है। सरकार की ओर से वहाँ के निवासियो के लिए भोजन, वस्त्र, आमोद-प्रमोद शिक्षा आदि का प्रबन्ध है। कोई भी निवासी अपने पास पूँजी नही रख सकता और अपने परिश्रम, शक्ति और गुण का अपने लिए कोई फल नही देख सकता। इस व्यवस्था से समाज की अशाति दूर नही हो सकती। हाँ, यह बात अवश्य है कि दरिद्रता-जन्य दुःख दूर हो जायँगे। मनुष्य आलसी होकर कार्य से जी चुराने लगेंगे, अपनी शक्तियों का भरसक प्रयोग न करेंगे। स्वार्थी होना मानव-स्वभाव है। मनुष्य प्रायः तभी अपनी सम्पूर्ण शक्तियो का भरसक उपयोग करता है जब वह ऐसा करने मे अपने लिए कोई अलग लाभ या सुख देखता है। समाज के हित का ध्यान उसे उतना नही रहता जितना अपने हित का।

सासारिकता (materialism) भी अशाति का एक बड़ा कारण है। आजकल विज्ञान के उत्थान के कारण मनुष्य बहुत सासारिक हो गया है। विज्ञान ने जगत को आकर्षक एवं सुन्दर बना दिया है, उसमें अनेक प्रकार की सुख-सामग्री उत्पन्न कर दी है, मनुष्य को हाथ-हिलाने तक की आवश्यकता नही रक्खी है। जहाँ पहले टिमटिमाते हुए दीपक दिखाई पड़ते थे वहाँ आज बिजली का चमकता हुआ उज्ज्वल प्रकाश देखा जाता है। फोटोग्राफी की कृपा से आज कैसे-कैसे सुदर चित्र देखने को मिलते हैं! फोटोग्राफी ने प्रकृति के सुंदर दृश्यो और स्त्री-पुरुषों के सुदर रूप को सुरक्षित किया है। रेडियो, ग्रामोफोन, हारमोनियम आदि वाद्य-यंत्रो द्वारा मनोरजन का विधान हुआ है। मोटर, वायुयान आदि ने इधर-उधर जाने के कष्ट को दूर किया है। सिनेमा मन-बहलाव का साधन है। क्रीम-पाउडर ने शरीर के सौन्दर्य में वृद्धि की है। चश्मे और सिगरेट ने मुँह की शोभा बढ़ाई है। घड़ी ने कलाई को सुशोभित किया है। टैलीफोन और

बिजली के पखे ने कमरे मे स्थित होकर सुख की व्यवस्था की है। तरह तरह की मशीनों ने कार्य-भार अपने सिर पर लेकर हाथ को कार्य करने के दुःख से बचाया है। विलास-सामग्री के विद्यमान रहते हुए कौन न सासारिक हो जायगा? किसे धर्म के नियत्रण में रहना रुचेगा? यही कारण है कि चारो ओर धर्म उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। दार्शनिक मूर्ख कहे जाते हैं और उपदेशक बकवादी। पर किसी को भी शाति नही। सासारिकता से क्या कभी शाति मिलना सभव है? कदापि नही। शाति मिलती है आत्मोन्नति से, आत्मोद्धार से, और आत्मोद्धार का साधन है धर्माचरण।

साम्प्रदायिकता भी सासारिक अशाति का एक कारण है। प्रत्येक देश मे यह देखा जाता है कि मनुष्य अपने-अपने सम्प्रदाय की, अपनी अपनी जाति की, हित-साधना मे सलग्न रहते हैं, सम्पूर्ण मानव-समाज के कल्याण के लिए वे कुछ भी नही करते। अँगरेज अपनी जाति की उन्नति चाहते हैं और जर्मन अपनी जाति की। जापानवाले अपनी भलाई चाहते हैं और रूसवाले अपनी। इटली-निवासी अपना उत्थान चाहते हैं और अमेरिकावाले अपना। यही बात नही है। एक जाति दूसरी जाति को देखना तक नही चाहती। एक जाति दूसरी जाति को ससार से मिटाना चाहती है। लीग ऑफ नेशन्स की असफलता इस चित्त-वृत्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रत्येक देश के अन्दर भी साम्प्रदायिक झगड़े होते रहते हैं। भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमान उलझते हैं। इँगलैण्ड मे रूढ़िवादी, सुधार-वादी और मजदूर-दल झगड़ते हैं। जर्मनी में नाजी और यहूदियो मे लड़ाई होती है। इनके अतिरिक्त पूँजीपतियो और मजदूरो में सर्वत्र संघर्ष होता रहता है।

युद्ध तो जगत की अशांति का कारण होता ही है! यह केवल दोनों पक्षवालों की ही शाति-भग नही करता बल्कि इससे ससार भर की शाति जाती रहती है। कुछ लोगो का कथन है कि युद्ध अशाति में

शाति स्थापित करता है। यह ठीक नही प्रतीत होता। न तो आज तक किसी युद्ध ने शाति स्थापित की है और न भविष्य मे कभी इसके द्वारा शाति स्थापित होने की आशा ही है। ऊपर ऊपर से युद्ध के परिणाम-स्वरूप भले ही शाति दिखाई दे, पर भीतर तो विद्रोह की ज्वाला धधकती ही रहती है। महायुद्ध के पश्चात आज तक जर्मनी इँगलैण्ड का विद्रोही बना हुआ है और इँगलैण्ड से बदला लेने का अवसर ताक रहा है। युद्ध के समय तो सारे ससार की शान्ति खतरे मे पड़ जाती है। आजकल ससार का कोई देश दूसरे देश की दशा से प्रभावित हुए बिना नही रह सकता। सभी देश एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, सभी देश एक दूसरे से नधे हुए हैं। जब दो देशों मे युद्ध होता है तो यह आशका रहती है कि कहीं अन्य देशो को भी उस युद्ध मे भाग न लेना पड़े। इसके अतिरिक्त व्यापार में भी गडबड हो जाती है। आजकल चीन और जापान मे युद्ध छिडा हुआ है। प्रत्येक देश सामरिक तैयारियों मे जुटा हुआ है। किसी भी देश मे शान्ति नहीं। इटली और अबीसीनियो मे अभी कुछ दिन हुए जब युद्ध हुआ था तब भी यही दशा होगई थी।

प्रजातत्र शासन की असफलता भी वर्तमान अशान्ति का कारण है। पहले संसार मे एकतत्र शासन था। प्रत्येक देश अथवा प्रान्त में एक राजा होता था जो उसका प्रबन्ध करता था। उसके अच्छे या बुरे होने पर प्रजा सुखी या दुःखी होती थी। सभ्यता के विकास के साथ धीरे धीरे लोगो के हृदय मे परतन्त्रता के प्रति घृणा होने लगी। वे स्वतंत्रता-प्रेमी होने लगे। वे चाहने लगे कि शासन की बाग-डोर प्रजा के हाथ में रहे। वे ऐसे नियमों का पालन करने के लिए क्यो बाध्य किए जायँ जिनके बनाने मे उनका कोई हाथ नहीं होता। फल यह हुआ कि संसार के अधिकांश देशों में प्रजातन्त्र शासन की दुन्दुभी बजने लगी। वहाँ राज-काज की व्यवस्था प्रजा करने लगी। परन्तु इधर कुछ दिनों से लोग प्रजातन्त्र शासन से घबड़ाने लगे हैं और पुनः एकतत्र शासन

की ओर उन्मुख हुए हैं। जर्मनी में हिटलर, इटली में मुसोलिनी, टर्की में कमालपाशा और रूस मे स्टेलिन शासक नहीं तो क्या है ? प्रजातन्त्र शासन के दोषो ने ससार में अशान्ति फैलाई है। प्रायः देखा जाता है कि अयोग्य मनुष्य भय या धन द्वारा मतदाताओ पर अधिकार करके सरकारी बचन देकर उनकी सहायता से पदो पर पहुँचते हैं। बहुत से अपने पक्ष के बल से पदो पर अपना अधिकार जमा लेते है। अयोग्य व्यक्ति से देश और समाज की सदैव हानि होती है। जो मनुष्य वचन-बद्ध होकर पदाधिकारी बनते हैं वे सर्वदा उन वचनों की पूर्ति के लिए प्रयत्न करते रहते हैं, समाज के हित के लिए कुछ भी नही करते। जो मनुष्य पक्ष-बल से पद पाते है वे अपने पक्ष के कल्याण और विपक्ष के सर्वनाश को अपना लक्ष्य बनाते हैं। परिणाम यह होता है कि प्रजा मे पारस्परिक सघर्ष और झगड़े होते रहते हैं।

साराश यह है कि परतन्त्रता, मशीनो का बाहुल्य, पूँजीवाद, सासारिकता, साम्प्रदायिकता, युद्ध और प्रजातन्त्र शासन की असफलता वर्तमान अशान्ति के प्रधान कारण हैं। जब तक इनका बहिष्कार या इनमे सुधार न होगा तब तक जगत मे शान्ति स्थापित नही हो सकती। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह संसार से अशान्ति का उन्मूलन करके उसमे शान्ति की जड़ जमावे। इसी में विश्वभर का कल्याण है।

काव्य की कसौटी

रूप-रेखा .—

(१) प्रस्तावना—काव्य का लक्षण

(२) काव्य की आत्मा के विषय में पाँच मत—

(क) अलकार को काव्य की आत्मा मानना और इसका खंडन

(ख) रीति को काव्य को आत्मा कहना और इसका खंडन

(ग) वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानना और इसका खंडन

(घ) ध्वनि को काव्य की आत्मा बतलाना और इसका खडन

(ङ) रस ही का काव्य की आत्मा होना

(३) भाव और कल्पना का कविता के मूलतत्व होना

(४) कविता और मानव-जीवन

(५) कविता और नीति

(६) कविता और प्रकृति

(७) कविता और वास्तविकता

(८) कविता मे शैली का रूप

(९) उपसंहार—सारांश

काव्य क्या है ? इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर बतलाना सरल नहीं है। प्रायः लोग पद्य को काव्य (कविता) समझा करते हैं। उनकी दृष्टि मे छद-शास्त्र के नियमो से अनुशासित वाक्य-विन्यास ही कविता है। वे कविता के लिए वृत्त के अतिरिक्त और किसी तत्व की आवश्यकता नही समझते। "भूख लगी है थाली परसो होती है कालिज

को देर” पंक्ति उनके विचार से कविता के पुण्य क्षेत्र में प्रविष्ट होने का सौभाग्य प्राप्त कर सकेगी। कहना न होगा कि इस भ्रम के कारण हिन्दी-साहित्य मे तुकबदियों की बहुत भरमार रही है। जो मनुष्य चार कड़ियो की तुक मिला लेता है वही अपने को कवि समझने लगता है। पर वास्तव मे केवल तुकबदी कविता नही हो सकती। कविता के लिए तुक या छद-शास्त्र का बधन उतना आवश्यक नहीं। आजकल मुक्त-छद मे कविता लिखी जा रही है। कतिपय कवि तो कविता के लिए छद का बधन नितान्त अनावश्यक समझते हैं। पर हम तो यही कहेंगे कि छद-बधन कविता का बाह्य रूप है उसका आन्तरिक रूप नहीं। उससे कविता सगीतमय हो जाती है पर वह कविता की आत्मा नहीं हो सकता।

कविता की आत्मा के विषय में विद्वानो में मतभेद रहा है। यदि सस्कृत के आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य की आत्मा ‘रमणीय अर्थ’ माना है तो आचार्य विश्वनाथ ने ‘रस’। यदि आचार्य उद्भट ने काव्य की आत्मा ‘अलकार’ माना है तो आचार्य कुंतक (कुंतल) ने ‘वक्रोक्ति’। आचार्य वामन ‘रीति’ को ही काव्य की आत्मा कहते हैं। इस प्रकार काव्य की आत्मा का निरूपण करने वाले पॉच सम्प्रदाय हुए हैं—ध्वनि-सम्प्रदाय, रस-सम्प्रदाय, अलकार-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय और रीति-सम्प्रदाय।

इनमे से किस सम्प्रदाय का मत ठीक है? अलकार सम्प्रदाय वालों का मत ठीक नही माना जा सकता। अलकारो को काव्य की आत्मा कहना भूल है। अलंकार वर्णन की प्रणाली है, वर्णन का विषय नहीं। वह शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म है। अलंकारों का काव्य में वही स्थान है जो सुन्दर युवती के शरीर पर आभूषणो का। यह अवश्य है कि आभूषणो से सुन्दर शरीर का सौन्दर्य और बढ़ता है पर उनका रहना शरीर की सुन्दरता की रक्षा के लिए नितान्त आवश्यक नहीं। आभूषण कुरूप शरीर को सुन्दर नहीं बना सकते। इसी प्रकार

अलंकारों से काव्य की शोभा बढ़ती अवश्य है, पर उनके अभाव में भी काव्य की शोभा बनी रह सकती है। एक संस्कृत के आचार्य ने भी अलंकारों को काव्य के शोभित करने वाले धर्म बतलाया है। उन्होंने कहा है—

काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते।

अतः अलंकारों को, जो कभी काव्य में उपस्थित रहते हैं और कभी नहीं, सर्वदा वर्तमान रहने वाली आत्मा का स्थान नहीं दिया जा सकता।

रीति-सम्प्रदाय वालों का भी मत भ्रमपूर्ण है। विशिष्ट पद-रचना को रीति कहते हैं। वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली तीन रीतियाँ मानी गई हैं। ये माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों पर अवलम्बित हैं। रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले काव्य में गुणों को प्रधानता देते हैं। गुणों को काव्य की आत्मा का स्थान नहीं मिल सकता। काव्य में उनका स्थान वही है जो मानव-शरीर में गुणों का है।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय वाले उक्ति के अनूठेपन को कविता कहते हैं। जैसे—

को तुम हौ ? इत आए कहाँ ? 'घनश्याम हैं', तो कित हूँ बरसौ।
'हम तो चितचोर कहावत हैं', तो जाहु जहाँ धन है सरसौ॥

इस पद्य में कृष्णजी के साथ राधिकाजी का परिहास है। कृष्णजी द्वार पर खड़े हुए हैं और राधिकाजी गृह के भीतर हैं। बाहर से कृष्णजी के पुकारने पर राधिकाजी उनसे प्रश्न करती हैं कि तुम कौन हो ? कृष्ण कहते हैं 'घनश्याम'। इस पर राधिकाजी कहती हैं कि कहीं जाकर वर्षा करो। इसी प्रकार 'चितचोर' नाम बतलाने पर वे कहती हैं कि धन वाले स्थान पर जाओ। यहाँ पर राधिका की उक्तियाँ वक्रोक्तियाँ हैं क्योंकि उनमें अनूठापन है। इस प्रकार की उक्तियों को भी काव्य की कोटि में स्थान नहीं मिल सकता। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें चमत्कार अवश्य है पर सरसता नहीं।

ध्वनि-सम्प्रदाय वाले रमणीय अर्थ भरे हुए वाक्य को काव्य कहते हैं। जैसे—

सीता-हरन तात, जनि कहेउ पिता सन जाइ।
जो मैं राम तो कुल सहित कहहि दसानन आइ॥

इस पद्य मे रमणीय अर्थ यह है कि मैं रावण का वध करूँगा। यहाँ 'अलकार-ध्वनि' है। ध्वनि तीन प्रकार की होती है—अलकार-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और रस-ध्वनि। अलकार और वस्तु के अन्दर रहने वाली ध्वनि कभी काव्य की आत्मा नही हो सकती। हाँ, रस-ध्वनि अवश्य काव्य की आत्मा है। ध्वनि को काव्य की आत्मा इस लिए नही माना जाता कि ऐसा करने से अलकार-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि भी काव्य की आत्मा हो जाती हैं।

वास्तव मे रस ही काव्य की आत्मा है। भाव रस का मूलाधार है। विभाव, अनुभाव और सचारी भाव के सयोग से रस की उत्पत्ति होती है। काव्य मे 'रति' आदि स्थायी भावो के जो कारण, कार्य और सहकारी होते है उनको क्रमशः विभाव, अनुभाव और सचारी-भाव कहते हैं। जैसे—

राम को रूप निहारति जानकी, कक्न के नग की परछाही।
यातें सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारति नाही॥

इस कविता मे शृङ्गार-रस है। यहाँ पर रति स्थायी भाव, राम आलबन, राम का प्रतिबिम्ब उद्दीपन विभाव, एक टक देखना, जुआ में भाग न लेना, कर का स्थिर कर लेना आदि अनुभाव और जड़ता, मति, हर्ष आदि सचारी हैं। रस के इन अङ्गों मे 'भाव' और कल्पना दोनो तत्त्वों का समावेश है। विभावो और अनुभावों की प्रतिष्ठा कवि की कल्पना द्वारा ही होती है। कवि कल्पना द्वारा अपने काव्य मे भिन्न-भिन्न रसों के आलम्बनो और स्थायी भावो को उद्दीप्त करने वाली सामग्री की अवतारणा करता है, और फिर आश्रय की शारीरिक चेष्टाओ का कल्पनात्मक रूप खड़ा करके श्रोता या पाठक को उन्हें प्रदर्शित करता है।

अतः स्पष्ट है कि भाव और कल्पना कविता के मूल तत्त्व हैं। हम भाव को कविता का प्राण कह सकते हैं क्योकि उसके बिना कविता प्राण--रहित शरीर है। पर कल्पना भी काव्य के लिए आवश्यक है। यदि भाव का स्थान प्रधान है तो कल्पना का गौण। विलायती काव्य मे कल्पना को प्रधान स्थान दिया गया है। विलायत मे उत्कृष्ट कविता वही समझी जाती है जिसमे कवि अपनी कल्पना का वैचित्र्यपूर्ण आरोप करके वस्तुओ का काल्पनिक चित्र खीच दे। शायद हिन्दी का यह पद्य—

चढ्यो गगन तरु धाइ, दिनकर-बानर अरुण मुख।
कान्हो झुकि झहराय, सकल तारका कुसुम बिन॥

(केशवदास)

विलायत वालो के निकट उत्कृष्ट कविता का उदाहरण होगा। पर हमारा तो यह कहना है कि सच्ची कल्पना खिलवाड़ के लिए नहीं होती। कवि को बेपर की उड़ान भरकर 'जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि' उक्ति को चरितार्थ नही करना चाहिए। कविता मे कल्पना साधन मात्र है। उसी को साध्य समझ लेना भूल है। कविता का लक्ष्य जीवन और जगत के मार्मिक पक्षो को मानव–समाज के समक्ष रखना है जिससे शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा हो सके। इस उद्देश्य की पूर्ति कविता भावो का आश्रय लिए बिना नहीं कर सकती। वास्तव मे विभिन्न भावो की अभिव्यजना करती हुई कविता मानव हृदय को सजग रखती है और सृष्टि के साथ उसका तादात्म्य स्थापित करती है। व्यवहार–क्षेत्र जटिल हो जाने के कारण मनुष्य के हृदय का सकुचित हो जाना अधिक सभव रहा है। प्रायः देखा जाता है कि जीविकोपार्जन के लिए मनुष्य दिन भर किसी-न-किसी धन्धे मे, किसी-न-किसी काम मे, जुटा रहता है। ऐसी दशा में उसके हृदय में सोए हुए भावो को भोजन नहीं मिल पाता। परिणाम यह होता है कि कुछ काल पश्चात् वे मर जाते हैं। यही कारण है कि

दुकान पर सौदा बेचता हुआ दुकानदार एक शीर्ण कलेवरा भूखी बुढिया की विनय से तनिक भी दयार्द्र नही होता। यही कारण है कि हल जोतता हुआ किसान बैल की घायल पीठ पर डडे बरसाता हुआ बिलकुल नहीं पसीजता। सदैव कार्य मे व्यस्त मनुष्य मशीन-सा हो जाता है। जैसे मशीन में भावानुभूति नही होती उसी प्रकार उपयुक्त अवसर के प्रस्तुत होने पर भी उस मनुष्य मे भाव नहीं जाग्रत होता। काव्य मानव–हृदय के भावो को भोजन देकर उनकी रक्षा करता है, उन्हे नष्ट होने से बचाता है। कवि की वाणी के प्रसाद से हम संसार के सुख–दुःख का अनुभव प्राप्त करते हैं। कवि की वाणी जीवन की मार्मिक घटनाओं का चित्रण करती हुई हमे कभी हँसाती है, कभी रुलाती है, कभी दयार्द्र करती है, कभी क्रोध से भर देती है, कभी प्रेम के समुद्र मे डुबोती है, कभी उत्साह से नचाती है। जैसे—

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
बिपति बँटावन बन्धु–बाहु बिनु करौ भरोसो काको?
सुनु सुग्रीव साँचेहूँ मोपर फेरयो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर–सकट हौ तज्यो लषन सो भ्राता॥
गिरि कानन जैहैं शाखा मृग हो पुनि अनुज–सघाती।
ह्वै है कहा बिभीषन की गति, रही सोच भरि छाती॥

इसे सुनकर या पढ़कर किसका हृदय शोक से नहीं भर जायगा? या—

भौह ऊँचै, आँचरु उलटि, मौर मोरि मुंह मोरि।
नीठि नीठि भीतर गई, दीठि दीठि सों जोरि॥

इस उक्ति का श्रोता या पाठक प्रेम–सागर मे निमग्न हुए बिना रह सकता है?

कविता मानव–हृदय के भावो की सरक्षा करती हुई जीवन की व्याख्या भी करती है। मैथ्यू आर्नल्ड नामक एक अँगरेज समालोचक ने कहा है—Poetry is a criticism of life. अर्थात् कविता जीवन की आलोचना है। कवि अपने काव्य मे जीवन की समस्याओं का विवेचन और

भिन्न-भिन्न दशाओ का चित्र उपस्थित करता है। जीवन की व्याख्या करता हुआ, उसका विश्लेषण करता हुआ, कवि जीवन के भीतरी तत्वो और सिद्धान्तों का उल्लेख किए विना नही रह सकता। जहाँ जीवन की विवेचना की जायगी वहाँ नैतिक सिद्धान्तो का भी विचार करना ही पडेगा। नीति को जीवन से पृथक् नही किया जा सकता। अतः नीति को काव्य से भी अलग नही किया जा सकता। मैथ्यू-आर्नल्ड ने कहा भी है—

A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life; a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards life. अर्थात् वह कविता जो नीति का विरोध करती है जीवन का भी विरोध करती है। वह कविता जो नीति से उदासीन रहती है जीवन के प्रति भी उदासीन रहती है।

सच्ची कविता के लिए नीति का आश्रय आवश्यक है। वही कविता आदरणीय समझी जाती है जिससे भावो के माध्यम द्वारा आचरण की शिक्षा मिले। गोस्वामी तुलसीदासजी की कविता ऐसी ही है। उनके 'रामचरितमानस' नामक काव्य मे मानव-जीवन का सर्वोत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। नीति और आदर्श के साथ काव्य का भव्य रूप मन को मुग्ध करनेवाला है। 'रामचरितमानस' द्वारा हिन्दू जाति का जो उपकार हुआ है उसे बतलाना शब्द की शक्ति के बाहर है। यदि गोस्वामीजी अपने काव्य मे मर्यादा और आदर्श का स्वर्ण-सयोग न करते तो क्या यह उपकार सभव था? नीति काव्य को गौरवान्वित करती है। पर कलावादी लोग नीति और काव्य का साथ नहीं देख सकते। उनका सिद्धान्त 'कला कला ही के लिए' है, 'कला का उद्देश्य कला ही' है। इस सिद्धान्त के अनुसार कला और जीवन में कोई सम्बन्ध ही नहीं है, कला मे सदाचार का कोई स्थान ही नही है। कलावादी लोग

कला और आचार का क्षेत्र पृथक् पृथक् मानते हैं। यह उनकी भूल है। यदि कला का उद्देश्य जीवन की व्याख्या नही, सदाचार का रूप खड़ा करना नही, तो फिर उसका अस्तित्व किस लिए है? क्या मनोरंजन के लिए? यदि काव्य का उद्देश्य मनोरंजन ही मान लिया जाय तो नाचने-गाने के समान काव्य भी विलास की सामग्री हुआ। पर क्या सूर और तुलसी सरीखे महात्माओ ने मनोरंजन के लिए ही काव्य-रचना की थी? खेद के साथ कहना पड़ता है कि कुछ लोग सचमुच कविता को विलास का उपकरण मात्र समझते रहे हैं। रीति-काल की हिन्दी-कविता इस तथ्य का ज्वलंत उदाहरण है। कहने का तात्पर्य यह नही है कि कविता से मनोरंजन नही होता। पर उसको कविता का चरम लक्ष्य समझ लेना भूल है।

मानव-जीवन के साथ साथ कविता में प्रकृति-चित्रण को भी स्थान मिलना चाहिए। प्रकृति मनुष्य की चिर सहचरी है। दोनो मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य असभ्य अवस्था में तो प्रकृति के बीच मे रहता था, जंगलो मे निवास करता था। पर सभ्यता की वृद्धि के कारण वह प्रकृति के साथ वैसा संसर्ग नही रखता। तो भी प्रकृति को अपने साथ रखता है। वह गमलो या बगीचे मे पेड़ उगाकर अपने प्रकृति-प्रेम का परिचय देता है। प्रकृति-चित्रण से काव्य मे विशेष सौंदर्य आ जाता है। प्रायः कवि प्रकृति का उपयोग अलंकार-सामग्री या उद्दीपन विभाव के रूप में करते हैं, जो अच्छा नहीं लगता। काव्य मे प्रकृति वर्णनीय विषय होकर आनी चाहिए।

कविता असलियत से भी परे न हो, वास्तविकता का गला न घोटे। उसमें जो उक्ति हो वह मानवीय मनोविकारो और प्राकृतिक नियमो के आधार पर कही गई हो। स्वाभाविकता से उसका सम्बन्ध न छूटा हो। जगत के वास्तविक दृश्यों और जीवन की वास्तविक दशाओं का चित्रण जिस कविता मे होगा वही सच्ची कविता कहला सकेगी। गर्ज यह कि कविता मे असंभव बातें न कही जायँ, जिससे

वह जीवन-क्षेत्र से अलग खड़ा किया गया तमाशा न हो जाय। जैसे बिहारी की ये पक्तियाँ हैं—

इत आवति चलि जाति उत चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं मैं रहै लगी उसासनु साथ॥

अब कविता की शैली को लीजिए। शैली कविता का बाह्य रूप है। वह जितनी उत्तम होगी कविता उतनी ही आकर्षक होगी। अतः कवि को शैली का भी ध्यान रखना चाहिए। शैली के प्रधान अङ्ग भाषा, अलकार और शब्द-शक्तियाँ हैं। कवि की भाषा सरल और परिष्कृत होनी चाहिए। उसमे शब्दाडम्बर न हो। वही कवि सिद्धहस्त कहलाता है जो सरल से सरल भाषा में थोड़े से थोड़े शब्दो द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों की व्यंजना कर सके। धारा-प्रवाह भी भाषा का एक आवश्यक गुण है। कवियो को अपनी भाषा मे 'व्याकरण की लोहे की कड़ियाँ' नही तोडनी चाहिएँ। व्याकरण के नियमों का उल्लघन करने से भाषा का रूप विकृत हो जाता है। काव्य मे कतिपय अलकारो का होना उतना ही आवश्यक है जितना किसी सुन्दरी के शरीर पर आभूषणों का होना। पर अलकार भाव-व्यजना के सहायक होकर आवें, अपना स्वतत्र अस्तित्व दिखाने के लिए नही। जहाँ तक हो वाक्य-विन्यास मे लक्षणा और व्यजना शक्तियों से काम लिया जाय। लक्षणा शक्ति के प्रयोग से नेत्रो के सामने किसी व्यापार का चित्र सा उपस्थित हो जाता है। जैसे—"समय भागा जाता है" में 'भागा' लाक्षणिक शब्द भागनेवाले प्राणी का व्यापार नेत्रों के सम्मुख उपस्थित करता है।

उपर्युक्त बातो का ध्यान रखने से श्रेष्ठ कविता की उद्भावना की जा सकती है।

शान्ति की विजय युद्ध की विजय से बढ़कर है

रूप-रेखा :—

(१) प्रस्तावना—शान्ति में विजय का संभव होना और उसका रूप

(२) शान्ति की विजय—

(क) प्रकृति पर विजय

(ख) रोगों पर विजय

(ग) सामाजिक कुरीतियों का बहिष्कार

(घ) राजनीतिक सुधार

(ङ) कलाओं का उत्थान

(च) अशिक्षा का निवारण

(छ) आत्म-संस्कार

(३) शान्ति की विजय की श्रेष्ठता

(४) स्थायित्व

(५) समस्त मानव-जाति का कल्याण

(६) समाज और देश का उत्कर्ष

(७) रुधिर-प्रवाह आदि अवगुणों से रहित होना

(८) उपसंहार—सारांश

उन मनुष्यों को जो केवल युद्ध की विजय से परिचित हैं इस कथन में विरोध दिखलाई देगा कि शांति की विजय युद्ध की विजय से बढ़कर है। वे पूछेंगे कि क्या शाति के समय भी विजय सम्भव है ? क्या युद्ध के बिना भी कभी विजय प्राप्त की जा सकती है ? वे

समझेंगे कि उक्त कथन में सत्यता का कोई अश नहीं है । पर क्या उनका ऐसा समझना ठीक है ? कदापि नहीं । इसमे सदेह नहीं कि युद्ध से विजय होती है, युद्ध लड़कर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य पर, एक जाति दूसरी जाति पर, एक देश दूसरे देश पर, विजय पाता है । इतिहास इस बात का साक्षी है । नेपोलियन, नेलसन आदि वीरो ने अनेक विजय युद्ध लड़कर प्राप्त की । इटली ने अबीसीनिया और जापान ने चीन पर अपना अधिकार युद्ध द्वारा ही जमाया है । किन्तु यह समझना भ्रामक होगा कि केवल युद्ध से ही विजय सम्भव है । युद्ध के अभाव मे भी विजय प्राप्त की जा सकती है । शाति के समय भी विजय सम्भव है । हाँ, युद्ध की विजय और शाति की विजय मे भेद है । युद्ध की विजय किसी मनुष्य, किसी देश अथवा किसी जाति पर अधिकार करना है । शाति की विजय से अभिप्राय प्रकृति को वश मे करना, शारीरिक रोगो को दूर करना, सामाजिक कुरीतियो का बहिष्कार, साहित्यादि कलाओं का उत्थान, शिक्षा का प्रचार और आत्मोन्नति है ।

पहले प्राकृतिक विजय को ही लीजिए । मनुष्य ने शाति के समय प्रकृति के भिन्न-भिन्न अङ्गो का अध्ययन करके वायु, जल, स्थल, समय आदि पर विजय प्राप्त की है । वायुयान का आविष्कार हुआ है जिसमें बैठकर मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान को जा सकता है । समुद्र पर चलनेवाले जलयान जलमार्ग से यात्रियो को इधर-उधर ले जाते हैं । रैल, मोटर आदि ने स्थल पर अधिकार कर रक्खा है । टेलीफोन, रेडियो, तार इत्यादि समय को वश मे किए हुए हैं । एक स्थान से दूसरे स्थान को सदेश भेजने मे नाममात्र का समय लगता है । भौतिक विज्ञान की सहायता से प्रकृति की शक्तियाँ——बिजली, प्रकाश, ध्वनि, ताप आदि——हमारी दासियाँ हैं । बिजली ने हमारे लिए पंखो की शीतल वायु और रात्रि के समय उज्ज्वल प्रकाश की व्यवस्था की है । प्रकाश ने चश्मे द्वारा हमें अधा होने से बचाया

है और हमारे मनोरजन के लिए दूरदर्शक तथा सूक्ष्म-निरीक्षक यन्त्रो का प्रबन्ध किया है। ध्वनि ने आमोद-प्रमोद के लिए तरह तरह के वाद्य-यन्त्रो का विधान किया है। ताप ने शीत से हमारी रक्षा की है। प्रकृति को वश में करने से ऐसे-ऐसे यन्त्रों का निर्माण हुआ है जो हमारे लिए दिन भर काम किया करते हैं, हमे जरा भी हाथ नहीं हिलाने देते।

शाति के जीवन से हमे ऐसे-ऐसे यन्त्र एव ऐसी-ऐसी युक्तियाँ मिली हैं जिन्होंने मानव-शरीर के रोगो पर विजय प्राप्त की है। विज्ञान ने शारीरिक कष्टो को दूर किया है और यह शाति-मय जीवन में ही फूलता-फलता है। मानव-शरीर का अध्ययन करके रोगो को दूर करने के लिए अनेक प्रकार की औषधियाँ ढूँढ़ निकाली गई है। पहले जिन रोगो को दूर करने के लिए कोई औषधि नहीं थी आज उनके उन्मूलन के लिए अनेक औषधियाँ उपलब्ध हैं। चीर-फाड़ के विज्ञान (Surgery) ने आशातीत उन्नति करके मानव-शरीर की रक्षा का प्रयत्न किया है। कई ऐसे रोग हैं जो औषधियो से ठीक नही होते पर ऑपरेशन से ठीक हो जाते हैं। घावो के लिए ऑपरेशन बड़ी अच्छी चिकित्सा है। कभी कभी जब शरीर का कोई अङ्ग बेकार हो जाता है या हड्डी टूट जाती है तो चीर-फाड़ द्वारा उसको निकाल कर उसके स्थान पर मनुष्य का या मनुष्य के सदृश शरीर वाले किसी जानवर का अग या उसकी हड्डी लगा दी जाती है। ऑपरेशन के कष्ट को दूर करने के लिए क्लोरोफार्म सरीखी वस्तुओ की खोज की गई है। कीटाणुनाशक औषधियाँ (Antiseptics) का भी अन्वेषण हुआ है जिनसे ऑप-रेशन मे प्रयुक्त होने वाले यन्त्रों को कीटाणु-रहित किया जाता है। ऐक्स-रे ने तो चिकित्सा-क्षेत्र मे उथल-पुथल कर दी है। इस यन्त्र के द्वारा शरीर के किसी भी आन्तरिक अग की दशा का ठीक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और शारीरिक रोग के ठीक स्थान का भी निश्चय हो सकता है। मान लीजिए किसी के पेट में कही फोड़ा होगया

शान्ति के समय साहित्यादि कलाओ का उत्थान होता है। युद्ध के समय कोई कला उन्नति नही कर सकती, क्योंकि उस समय मस्तिष्क और हृदय को शान्ति नही होती। कहने की आवश्यकता नही कि कला के अभ्युत्थान के लिए शान्ति अत्यन्त आवश्यक है। जब देश मे युद्ध नही होते, जब चारो ओर शान्ति का साम्राज्य फैला रहता है, तभी कला–सागर से अनूठे रत्न निकलते है। यही कारण है कि प्रत्येक देश में शान्ति के समय ही कला उच्चता के शिखर पर पहुँची है। भारतवर्ष को लीजिए। ईसा की सोलहवी और सत्रहवी शताब्दियो में यहाँ साहित्य ने पर्याप्त उन्नति की। यहाँ तक कि यह काल साहित्य के इतिहास मे स्वर्णयुग के नाम से प्रसिद्ध है। इसी समय मे काव्य को प्रौढ़ता की चरम कोटि पर पहुँचाने वाले तुलसी और सूर हुए। अन्य कलाओ की भी इस काल मे उन्नति हुई। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ ने वास्तु–कला, चित्र–कला' सगीत–कला और मूर्ति–कला को पर्याप्त उन्नत किया। कहना न होगा कि इस समय भारतवर्ष मे सुख और शान्ति विराज रही थी।

अशिक्षा पर विजय भी शान्ति के समय मे ही प्राप्त होती है। अशिक्षा मनुष्य–समाज की शत्रु है। उससे बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं। वह मस्तिष्क के विकास में बाधा उपस्थित करती है। अशिक्षा के कारण मनुष्य कूप–मडूप बना रहता है। वह नही जानता कि उसके चारो ओर ससार में क्या हो रहा है। वह अध–विश्वासी भी हो जाता है। मस्तिष्क के अविकसित रहने के कारण न वह किसी बात को ठीक-ठीक सोच ही सकता है और न ठीक-ठीक समझ ही सकता है। सुधारो से वह कोसो दूर भागता है। अशिक्षित लोगो मे पारस्परिक झगड़े बहुत होते हैं। वे जरा जरा सी बातों पर उलझ जाते हैं। यह देखा गया है कि जिस स्थान के निवासियो मे जितनी अधिक अशिक्षा होती है उस स्थान के निवासी उतने ही अधिक लड़ाकू होते हैं। शान्ति के समय में अशिक्षा को हटाने के प्रयत्न किए जाते हैं। सुधारक इस

बैरिन को पराजित करके इसका काला मुँह करने के लिए आतुर रहते हैं। जिस दिन इसका काला मुँह हो जाता है उसी दिन से ज्ञान रूपी सूर्य अपना आलोक फैलाने लगते हैं। जिस दिन इसको निकाल दिया जाता है उसी दिन से चारो ओर उन्नति के लक्षण दिखलाई देने लगते हैं।

शान्ति-काल मे ही आत्मा की कमजोरियो पर विजय पाने का सुयोग रहता है। उपदेशक मनुष्य मनुष्य मे प्रेम और सहानुभूति के भाव पैदा करते हैं। वे ईर्ष्या, द्वेष, कपट आदि मनोविकारो को मानव-हृदय से निकालने के प्रयत्न करते है। शान्ति के समय धर्म भी उन्नति करता है। धार्मिक शिक्षा से मनुष्यो का आचरण शुद्ध होता है। आचरण की शुद्धता से आत्मोन्नति होती है। वास्तव मे शान्ति के दिनो मे इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि मनुष्य एक दूसरे से मिल कर रहे और शुद्ध जीवन व्यतीत करते हुए निरतर आत्मिक शक्ति को बढाते जायँ जिससे अत मे उन्हे आनन्द और शान्ति मिले।

इस प्रकार हम देखते है कि शान्ति की भी अपनी विशेष विजय हैं। पर ये विजय अप्रकट रहती है और युद्ध की विजय प्रकट। शान्ति-कालीन विजय युद्ध की विजयो से स्थायी होती हैं। पहली सदैव के लिए बनी रहती हैं और दूसरी अल्पकाल के लिए। जैसे—रोग, अशिक्षा, सामाजिक बुराइयो इत्यादि पर प्राप्त की हुई विजय कभी नही मिट सकती। क्या आज जिस रोग को वश मे कर लिया गया है वह कभी किसी समय भी वश से बाहर हो सकता है? क्या समाज की जिस बुराई को बाहर निकाल दिया गया है वह पुनः अपना मुँह दिखा सकती है? कदापि नहीं। पर यही बात युद्ध की विजयो के विषय में नही कही जा सकती। एक कमाडर आज किसी देश को जीत लेता है अथवा किसी शत्रु को पराजित कर देता है। क्या यह सभव नही है कि कल उस देश को उससे छीन लिया जाय अथवा पराजित शत्रु विजय पा जाय?

स्थायित्व के अतिरिक्त शाति की विजय युद्ध की विजय से इसलिए भी बढ़कर है कि वह समस्त मानव-जाति का कल्याण करने वाली है। शाति के कार्य किसी वर्ग या जाति तक ही सीमित नहीं हैं। जैसे—विज्ञान ने जो अन्वेषण और अनुसंधान किए हैं उनसे सभी मनुष्यों को लाभ पहुँचा है। पर युद्ध की विजय से किसी एक मनुष्य या एक वर्ग या एक जाति का ही भला होता है।

शाति की विजय से समाज और देश उत्कर्ष के मार्ग में अग्रसर होते हैं, किन्तु युद्ध की विजय से सर्वदा उन्नति नही होती। यदि कभी युद्ध की विजय किसी देश को समृद्धिशाली बना देती है तो कभी अधोगति के अधकूप मे भी ढकेल देती है। यदि कभी वह किसी देश को ऊँचा उठा देती है तो कभी नीचे भी गिरा देती है।

युद्ध की विजय से शाति की विजय इसलिए भी अच्छी है कि पहली के लिए जो रुधिर-प्रवाह किया जाता है उससे दूसरी सर्वथा मुक्त है। युद्ध मे अगणित निरीह मनुष्यो का बध होता है। अगणित स्त्रियाँ विधवाएँ हो जाती है। अगणित बच्चे अनाथ हो जाते हैं। युद्ध से पारस्परिक द्वेष और विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित होती है। इस प्रकार युद्ध की विजय अशाति की जननी है और मानव-जाति के दुःखो को बढाती है। शाति की विजय मे ये बुराइयाँ नही है।

साराश यह है कि युद्ध की विजय से शाति की विजय बढ़कर है। पहली से मनुष्य-मनुष्य न रह कर पशु हो जाता है। दूसरी से मनुष्य मनुष्य न रह कर देवता हो जाता है। पहली से यह लोक नरक बनता है और दूसरी से स्वर्ग।

'सबै दिन जात न एक समान'

रूप-रेखा :—

(१) प्रस्तावना—सृष्टि की परिवर्तनशीलता

(२) कुछ देशों के उदाहरण

(३) कुछ जातियों के उदाहरण

(क) हिन्दू जाति की पूर्व दशा में परिवर्तन

(ख) अँगरेज जाति की पूर्व दशा में परिवर्तन

(४) व्यक्तियो के जीवन मे उलट-फेर

(५) महाराज हरिश्चन्द्र का उदाहरण

(६) कुछ आधुनिक व्यक्तियों का उदाहरण

(७) उपसंहार—सारांश

बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी 'भारत-भारती' मे लिखा है—

ससार मे किसका समय है एक सा रहता सदा,
हैं निशि-दिवा-सी घूमती सर्वत्र विपदा-सम्पदा।
जो आज एक अनाथ है नरनाथ कल होता वही,
जो आज उत्सव-मग्न है कल शोक से रोता वही॥

निस्सदेह किसी का भी समय एक सा नहीं रहता, किसी की भी दशा एक सी नही रहती। जो आज उत्कर्ष के शिखर पर चढ़ा हुआ है वह कल अपकर्ष के गर्त मे गिर जायगा। जो आज अधोगति के अध कूप में पड़ा हुआ है वह कल ऊर्ध्वगामी होगा। जो आज भूख से तड़पता फिरता है वह कल भोजन से ढक जायगा। जो आज

आपत्तियो से पीड़ित होकर आठ-आठ आँसू रोता है वह कल सुखों से फूला न समायगा। जो आज हताश है, जिसकी आशाओं पर आज पानी फिर गया है, वह कल आशाओं से भर जायगा। जिसका सौभाग्य-सूर्य आज ससार भर को आलोकित कर रहा है वह सूर्य कल अस्त हो जायगा। कहने का तात्पर्य यह है कि परिवर्तन सृष्टि का नियम है।

इतिहास इस तथ्य का समर्थन करता है। उसके पढ़ने से ज्ञात होता है कि किस प्रकार समय ने किसी देश, किसी जाति अथवा किसी व्यक्ति को नचाया है, उसके रूप मे परिवर्तन किया है। पहले देश को लीजिए। प्राचीन काल मे यूनान और रोम उन्नति के शिखर पर चढ़े हुए थे। सारे विश्व पर इनका सिक्का जमा हुआ था। ये देश सभ्यता की दौड़ में सब से आगे थे। इन देशो की शासन-पद्धति, रीति-नीति और ज्ञान-विज्ञान का ससार मे आदर था। इन देशों ने ऐसे-ऐसे विद्वान पैदा किए जिनका ज्ञान-मयक आज तक विश्व में चमक रहा है। यूनान ने सुकरात, प्लैटो, अरस्तू आदि दिव्य विभूतियो को जन्म दिया। ये महान आत्माएँ किसी भी देश के कीर्ति-स्तम्भ हो सकती हैं। पर आज यूनान और रोम की कोई हस्ती नही। आज इन देशो का कोई महत्व नहीं रह गया है। हाँ, इधर कुछ दिनो से रोम ने फिर उन्नति की ओर पदार्पण किया है। आज तो जापान आदि देशों के शंखनाद से विश्व प्रतिध्वनित हो रहा है। जापान आज समृद्धिशाली है। पर क्या प्राचीन समय मे भी इसकी यही दशा थी? नही! इतिहास से हमे विदित है कि प्राचीन युग में जापान का कोई स्थान नहीं था, उसकी कोई महत्ता न थी। यही हाल जर्मनी का था।

अब जाति को लीजिए। प्राचीन काल में हिन्दू-जाति की कीर्ति-पताका सारे ससार मे फहरा रही थी। उस समय यदि कोई जाति सब से अधिक सभ्य गिनी जाती थी तो वह हिन्दू जाति थी। उस समय यदि कोई जाति सब से ज्ञानवान् समझी जाती थी तो वह हिन्दू-जाति

थी। उस समय यदि कोई जाति सब से अधिक धनाढ्य थी तो वह हिन्दू जाति थी।

साराश यह है कि प्रत्येक क्षेत्र मे हिन्दुओ ने सब से ऊँचा स्थान पाया था। इस जाति मे ऐसी-ऐसी प्रतिभा सम्पन्न-आत्माओ का आविर्भाव हुआ जिन्होने सारे संसार को आलोकित किया। पर आज इसकी दुर्दशा है, आज इसका अपकर्ष है। एक वह समय था जब यह जाति विद्या, कला-कौशल और सभ्यता में अपनी सानी नहीं रखती थी और एक यह समय है जब इन् सब का इसमे अभाव पाया जाता है। एक वह समय था जब यह जाति सारे ससार की शिरोमणि थी और यह समय है जब यह विदेशी जातियो का मुँह ताकती है। निस्सदेह इस जाति का अतीत जितना उज्ज्वल था वर्तमान उतना ही अधकारमय है। प्राचीन समय मे इसका जैसा उत्थान था आजकल वैसा ही पतन है। यह अपने रंग-रूप को छोडकर विदेशी रग मे रँगी हुई है। अपनी सस्कृति और सभ्यता को भुलाकर अँगरेजी सभ्यता को अपनाए हुए है। आजकल खान-पान मे, रहन-सहन में, आचार-विचार मे, अँगरेज ही हिन्दुओ के अनुकरणीय हो रहे हैं। उन्हीं के ताल-सुर पर हम नाच रहे है। हमने अँगरेजो से बिसकुट खाना और चाय पीना सीखा है। धोती छोडकर पैण्ट धारण की है और हमारी टोपी का स्थान हैट ने ले लिया है। हमे अपनी प्राचीन वस्तुओ से घृणा हो गई है। हम अपनी मातृभाषा का निरादर करते हैं। उसमें बोलने में अपनी हेटी समझते हैं, हम विदेशी भाषा अँगरेजी को शिक्षा और विचार-विनिमय का माध्यम बनाए हुए है। विदेशी रीति-रिवाजो की नकल करने में हम अपना सौभाग्य समझते हैं। हमारी शिक्षा-प्रणाली, सामाजिक-गठन और शासन-पद्धति विदेशी प्रवृत्तियो से ओत-प्रोत है। साराश यह है कि हममें भारतीयता के लक्षण बहुत कम रह गए हैं। हमारी पराधीनता ने हमे दो कौड़ी का भी नहीं रक्खा है। इसी के कारण आज हमारे भाई दाने-दाने को तरसते हैं। सचमुच आज हमारी

अत्यन्त शोचनीय दशा है। यही कारण है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की आत्मा हिन्दुओ की दशा से अत्यन्त व्यथित हुई। उन्होने 'भारत-दुर्दशा' नाटक मे अपने हृदय के उद्गार इस प्रकार प्रकट किए हैं—

रोवहु सब मिलि के आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य बिधाता कीनो॥
सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो॥
अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

पर हर्ष का विषय है कि इधर कुछ दिनों से पुनः हमारी जाति में उन्नति के लक्षण दिखाई दे रहे हैं।

आजकल अँगरेज जाति का सौभाग्य-सूर्य चमक रहा है। सारी दुनियाँ मे इसकी प्रतिष्ठा है। कई भूभागो पर इसका अधिकार है। आजकल इस जाति मे विद्या है, बुद्धि है, बल है, धन है, सुख-सम्पदा है, पर नही है एक वस्तु—आध्यात्मिकता—जिसके अभाव मे कोई जाति पूर्ण सभ्य नही कही जा सकती। किन्तु अर्वाचीन ससार मे इसे कौन पूछता है? जिस आध्यात्मिकता की कसौटी पर कस कर प्राचीन-काल मे किसी मनुष्य या जाति का मूल्य निर्धारित किया जाता था आज उसे आलसियों का व्यवसाय बतलाया जाता है, वह अब सभ्यता की निशानी नही है। अब ससार मे भौतिकवाद (materialism) का ताडव नृत्य हो रहा है। हाँ, तो आज अँगरेज जाति के सिर पर उत्थान का सेहरा बँधा हुआ है। पर क्या प्राचीन समय मे भी इसकी यही दशा थी? नही। उस समय इस जाति को कोई नही जानता था। न यह सभ्य थी और न समृद्ध, न यह विद्वान् थी और न बुद्धिमान। आजकल की तरह अन्य देशों में इसका राज्य न था। यह प्रधानतः वाणिज्य

करनेवाली एक जाति थी। इधर-उधर व्यापार करके अपना उदर-पोषण करती थी। भारतवर्ष मे भी पहले यह व्यापारी की हैसियत से ही आई थी। इसने यहाँ के शासकों को शक्तिहीनता के कारण धीरे धीरे अपना राज्य स्थापित कर लिया। आज यह विश्व की सिरमौर बनी है। यह है समय का फेर।

यही उलट-फेर व्यक्तियों के जीवन मे भी देखा जाता है। दिनो के हेर-फेर से राजा रक हो जाता है और रंक राजा, मूर्ख विद्वान् हो जाता है और विद्वान् मूर्ख, निर्धन धनवान हो जाता है और धनवान निर्धन, अशक्त शशक्त हो जाता है और शशक्त अशक्त। यह सब काल भगवान् की करामात है, उसी की क्रीड़ा है। यह मनुष्यो की गेद बना कर खेलता है। ऐसे काल-भगवान् को नमस्कार है। वह—

राई को पर्वत करै पर्वत राई माँहि।

भूतकाल मे ऐसे अनेक खेल खेले गए हैं। महाराज हरिश्चन्द्र का ही उदाहरण ले लीजिए। ये चक्रवर्ती राजा थे। न्याय और सत्य के लिए विश्व मे विख्यात थे। इनका व्रत था—

चद टरै सूरज टरै टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़ व्रत हरिचद कौ टरै न सत्य विचार॥

इनके राज्य मे प्रजा सुखी थी। इनका सर्वत्र सम्मान था और इन्हे सब प्रकार का वैभव प्राप्त था। पर समय के परिवर्तन ने इन्हे नीचे गिरा दिया। ये राजा से दास हो गए। इन्हे अपने को चाडाल के हाथ तथा अपनी पत्नी और एक मात्र पुत्र को ब्राह्मण के हाथ बेचना पड़ा। केवल यही तक आपत्ति ने इनका पीछा नही किया। इन्हे रातभर श्मशान मे जगते हुए शव जलाने का कर उघाना पड़ता था। एक दिन इनके पुत्र की मृत्यु हो गई और इनकी पत्नी उसे जलाने को उसी मरघट मे ले पहुँची। इन्होने उससे कर माँगा। उस बेचारी दासी पर कर चुकाने के लिए क्या था? पर इन्होने यह जानते हुए भी कि मृत

बालक मेरा पुत्र है और वह स्त्री मेरी पत्नी है कर लिए बिना उसको दाह-क्रिया करने की आज्ञा न दी। इस प्रकार समय ने हरिश्चन्द्र को सर्वोच्च पद से खींच कर निकृष्ट स्थान पर पहुँचा दिया।

आधुनिक काल में भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे दिनो के परिवर्तन की बात प्रमाणित होती है। अभी हाल की एक घटना को ले लीजिए। अष्टम ऐडवर्ड इँगलैण्ड के शासक थे। कौन जानता था कि वे शासक न रह कर शासित हो जायँगे? आज वे एक साधारण मनुष्य हैं। षष्ठ जार्ज जो आजकल इँगलैण्ड के सिंहासन पर हैं पहले एक साधारण व्यक्ति थे। उन्हे राज्यधिकार की कोई आशा भी न थी। पर समय ने महान उलट-फेर किया। अष्टम ऐडवर्ड के गद्दी से उतरने पर वह राजा बन गया। कुछ ही दिनों मे राजा प्रजा हो गया और प्रजा राजा। आजकल के बड़े-बड़े महानुभाव अपने जीवन के आरम्भ मे साधारण मनुष्य थे। महात्मा गाँधी जो भारतवर्ष के प्राण हैं बचपन मे एक सामान्य व्यक्ति थे। हिटलर और मुसोलिनी भी आरम्भ मे साधारण व्यक्ति थे पर समय ने इन लोगो को इतना ऊँचा चढ़ा दिया है। इँगलैण्ड के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री स्व० रैमजे मैकडोनल्ड पहले एक मजदूर थे और इतने गरीब थे कि सोने के लिए उनके पास पलंग भी न था। हम नित्य देखते हैं कि जो व्यक्ति कल भरपेट भोजन भी नहीं पा सकता था वह आज लखपती है और जो कल लखपती था वह आज दरिद्र है। जो कल शिष्य था वह आज गुरू है और जो कल दुःख-सागर में निमग्न था वह आज सुखी है।

इस प्रकार सारी सृष्टि में यह देखा जाता है कि मनुष्य की—मनुष्य ही की क्यों पशु, पक्षी, वृक्षादि सभी की—दशा में सदैव परिवर्तन होता रहता है। सूर्य कभी किसी समय उदय होता है और कभी किसी समय ऋतुएँ भी परिवर्तित होती रहती हैं। वृक्ष कभी हरे-भरे हो जाते हैं और कभी पत्रहीन। साराश यह है कि परिवर्तन सृष्टि मे सर्वत्र पाया

जाता है। सदैव किसी की भी दशा एक सी नहीं रहती। देश, जाति और व्यक्ति सभी में प्राचीन समय मे परिवर्तन हुआ और अब भी हो रहा है। अतः यह कथन अक्षरशः ठीक है—'सबै दिन जात न एक समान'।

साम्यवाद और भारतवर्ष

रूप-रेखा :—

(१) प्रस्तावना—साम्यवाद का प्रचार

(२) साम्यवाद का लक्षण

(३) भारत के लिए साम्यवाद की आवश्यकता

(४) साम्यवाद का भारतीय संस्कृति के अनुकूल न होना

(५) भारत में साम्यवाद के प्रचार से यहाँ की संस्कृति में परिवर्तन

(क) धर्म की आड़ में होने वाले आर्थिक शोषण का अन्त

(ख) भिखारियों का कर्मण्य बनाया जाना

(६) उपसंहार—भारतवर्ष में साम्यवाद के प्रचार में कठिनाइयाँ

इस बीसवी शताब्दी मे साम्यवाद का चारो ओर बोल बाला है। सारे विश्व मे इसकी आराधना हो रही है। भिन्न भिन्न देशो मे इसके आन्दोलन हो रहे हैं और पूँजीवाद के विरुद्ध आवाज उठाई जा रही है। इगलैण्ड और अमरीका जैसे प्रख्यात पूँजीवाद देश भी इसकी लपेट में आ गए हैं। वहाँ पूँजीवाद के विरुद्ध मजदूर–आन्दोलन हो रहे हैं और उनमे पर्याप्त सफलता मिलती जा रही है। वास्तव में आजकल समस्त ससार मे साम्यवाद की लहर फैली हुई है। हमारा भारतवर्ष भी इसके प्रभाव से वचित नही रह सका है। यहाँ दिन प्रतिदिन साम्यवादी विचारों एव सिद्धान्तो का प्रचार बढ़ता जा रहा है। किसानो और मजदूरो के जो नित्य नए आन्दोलन हो रहे हैं उनमे

साम्यवाद की झलक देखी जाती है। परन्तु यहाँ साम्यवाद अभी अपना घर नही कर सका है। इसे पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी है। अनेक व्यक्ति इसका विरोध कर रहे है।

साम्यवाद क्या है? साम्यवाद का अभिप्राय समाज के आर्थिक भेद–भाव का निराकरण है, समाज मे आर्थिक समानता की स्थापना है। इसके अनुसार समाज दो भागो में विभक्त है—धनी और दरिद्र। एक तो वे लोग हैं जो अपने व्यक्तिगत लाभ और सुख के लिए गरीबो का रक्त चूस–चूसकर रुपयो से तिजोरियाँ भर रहे हैं, और दूसरे वे लोग हैं जो भूखे और नगे रहकर पशु–तुल्य परिश्रम करने में अपने प्राण होम रहे हैं। एक वे लोग है जो मखमल के गद्दो पर पड़े हुए जीवन के सुख समुद्र मे गोते लगा रहे हैं और दूसरे वे लोग हैं जो दिन-रात पिसते रहने पर भी पेट के लिए रोटियाँ और शरीर ढकने के लिए वस्त्र भी नही पा सकते, सुख की तो बात दूर है। इस सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए साम्यवाद ने यह सिद्धान्त निर्धारित किया है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति से उसकी शक्ति के अनुसार काम लिया जाय और उस कार्य पर समाज का आधिपत्य हो, उस व्यक्ति का नही। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताओ की पूर्ति समाज की ओर से की जाय। इस प्रकार के सामाजिक सगठन से पूँजी और पैदावार दोनो व्यक्तियों के हाथो मे न रहकर समाज के हाथो मे चले जायँगे, जिससे धनिकों द्वारा दरिद्रो का रक्त–शोषण दूर हो जायगा।

क्या भारतवर्ष मे साम्यवाद की आवश्यकता है? भारत में दरिद्रता का पूर्ण साम्राज्य है। अन्य देशों की अपेक्षा यहाँ रोटी की समस्या प्रतिदिन जटिल होती जा रही है। यहाँ के कृषक और मजदूर दरिद्रता की साक्षात मूर्ति बने हुए हैं। वे दाने–दाने को तरसते हैं और उनके नग्न शरीर ढकने के लिए जीर्ण–शीर्ण वस्त्र भी नहीं है। उनके शरीर भूख के कारण घुले जाते हैं। उनकी पसीने की कमाई पर

पूँजीपति और जमींदार हाथ साफ करते हैं। उन्हे अपने परिश्रम के बदले मुट्ठी भर अन्न भी नही मिलता पर उसी से पूँजीपति और जमींदार को विलास-सामग्री उपलब्ध होती है। बेचारे किसानो और मजदूरों की कमाई से इन लोगो का मोटरो पर चढकर सैर-सपाटे करना उनकी छाती पर मूँग दलना नही तो और क्या है? परिश्रम कोई करता है, सुख कोई भोगता है। कितना अन्याय है! इसके अतिरिक्त सम्पत्ति का कैसा दुरुपयोग होता है! एक ओर तो मनुष्य क्षुधाग्नि में जलते है और दूसरी ओर अय्याशी मे रुपये उड़ाए जाते हैं। इसके नियंत्रण की आवश्यकता है। अतः हमारे देश मे साम्यवाद वाछनीय है। भारत को दरिद्रता के चंगुल से मुक्त करने के लिए साम्यवाद की उपादेयता कौन स्वीकार न करेगा?

पर साम्यवाद हमारी संस्कृति के सर्वथा अनुकूल नही है। भारतीय सस्कृति भाग्यवाद की भक्त है। हम लोगो का विश्वास है कि पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार मनुष्य को सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति आदि की प्राप्त होती है। यदि कोई मनुष्य धनाढ्य है, तो इसे पूर्व जन्म के सत्कार्यों का फल समझिए। यदि कोई मनुष्य भूखा मरता है, तो इसे पूर्व जन्म के कुकर्मों का परिणाम समझिए। भाग्यवाद के अनुसार इस विषमता को दूर करना धनिको के प्रति अन्याय ठहरता है। साम्यवाद समाज में आर्थिक समानता स्थापित करना चाहता है। यह पूर्णतः भाग्यवाद के प्रतिकूल है।

तो क्या भारतवर्ष मे साम्यवाद के प्रचार से भारतीय संस्कृति को हानि पहुँचेगी? कुछ लोगो का विश्वास है कि यदि इस देश में साम्यवाद का प्रचार हो जायगा तो यहाँ की संस्कृति एवं सभ्यता नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी। समझ मे नही आता कि किस प्रकार साम्यवाद से हमारे देश की संस्कृति और सभ्यता पर कुठाराघात होगा। हाँ, उसमे थोड़ा सा परिवर्तन अवश्य हो जायगा। धर्म की आड़ में जो आर्थिक शोषण हो रहा है उसका अन्त हो जायगा। आजकल बहुत से महन्त या धर्म

के ठेकेदार विलास में रुपये फूँक रहे हैं। उन रुपयो की पाई-पाई में दरिद्र किसानों और मजदूरो का पसीना है। इस प्रकार का आर्थिक दुरुपयोग दरिद्रो को और भी दरिद्र बना रहा है। भारतवर्ष में आय के बड़े-बड़े साधन मन्दिरो से लगे हुए हैं, जिनसे महन्तो को सहस्रो रुपयो की वार्षिक आमदनी होती हैं। ये धर्म के ठेकेदार गरीबो की कड़ी कमाई का अपव्यय करते हुए अकर्मण्य जीवन व्यतीत करते हैं। यह बड़ी बुरी बात है। यदि मन्दिरो की जायदादों पर जनता का अधिकार हो जाय, जिससे भूखो को अन्न और नगो को वस्त्र मिल सके, तो कितना अच्छा हो! इस प्रकार की व्यवस्था से भारतीय संस्कृति का कुछ भी अहित न होगा।

साम्यवाद के अनुसार यहाँ के भिखारियो को भी कार्य करना पड़ेगा। साम्यवाद किसी को भी अकर्मण्य नही छोड़ सकता। इससे भी हमारी संस्कृति को कोई हानि नही होगी। वास्तव में हमारी संस्कृति इन छोटी छोटी बातो से प्रभावित नहीं हो सकती। संस्कृति के प्रधान अंग खान-पान, वेश-भूषा और आचार-विचार हैं। इनमें परिवर्तन होने से सस्कृति को धक्का लगता है। इसके अतिरिक्त आजकल जैसा भिक्षा-व्यवसाय देखा जाता है उसका हमारी संस्कृति मे कोई स्थान भी नहीं है। इस व्यवसाय से हमारा समाज दिन-प्रतिदिन अधोगति की ओर अग्रसर हो रहा है। लोगो मे काम से जी चुराने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है।

साराश यह है कि साम्यवाद यद्यपि भारतीय संस्कृति के अनुकूल नही है, तो भी इससे हमारी संस्कृति को कोई हानि होने की सम्भावना नहीं है। इससे जो थोड़ा बहुत सास्कृतिक परिवर्तन होगा उसमे हमारी सभ्यता सुधर जायगी। पर क्या यह भारतवर्ष मे सफलता पा सकेगा? इसमे संदेह है। इसके मार्ग मे पहली कठिनाई तो अशिक्षा है। हमारे देश के मजदूर और किसान प्रायः पूर्णतः अशिक्षित हैं। वे साम्यवाद को समझ ही नहीं सकते, फिर उसके अनुसार कार्य करना तो दूर की

बात है । दूसरी कठिनाई भाग्यवाद है । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है हमारे देश में प्रायः लोग भाग्य के अधभक्त हैं । यदि वे धनाढ्य हैं तो भाग्य के कारण हैं और दरिद्र हैं तो दिनों के फेर से हैं, ऐसी उनकी धारणा है । अतः वे अपनी दशा से सतुष्ट हैं । तीसरी कठिनाई स्वार्थ है । साम्यवाद समाज के स्वार्थ पर अवलम्बित है । वह व्यक्तिगत स्वार्थ का विरोधी है । मनुष्य स्वभावतः व्यक्तिगत स्वार्थ का उपासक होता है । वह अपनी सम्पूर्ण शक्तियो का तभी उपयोग करता है जब उसे इस प्रकार के उपयोग से अपना तथा अपने परिवार का लाभ दिखलाई देता है, समाज के लाभ को वह पीछे देखता है । अतः साम्यवादी समाज मे व्यक्ति अपनी योग्यता का भरसक प्रयोग नहीं कर सकता । इससे समाज का अहित होगा । चौथी कठिनाई पूँजीपतियो और जमीदारों का विरोध है । वे कब चाहते हैं कि उनके कोषों पर समाज का अधिकार हो जाय । देखे भविष्य के गर्भ मे क्या है, भविष्य की कसौटी पर साम्यवाद कैसा उतरता है ।